2-3

सन्त-समागम

भाग २

(एक ब्रह्मनिष्ठ सन्त के उपदेश)

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन

Rs 7-00

सन्त-समागम

भाग २

एक ब्रह्मनिष्ठ सन्त के उपदेश

मानव-सेवा-संघ, वृन्दावन (मथुरा)

प्रकाशक :

प्रधानमन्त्री

मानव सेवा संघ,

वृन्दावन (मथुरा)

पिन—२८१ १२१

●

●

संशोधित संस्करण :

पाँचवीं बार : ४,००० प्रतियाँ

●

मूल्य—पाँच रुपये

Rs 7-00

●

मुद्रक :

राष्ट्रीय प्रेस

चौकी बाग बहादुर,

मथुरा।

फोन : ६८१२

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल,
एवम्
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जायँ।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

विषय-सूची

(उत्तरार्द्ध 'सन्त-समागम भाग ३' में)

परिचय

"सत्य अनन्त है, पुस्तक आदि में सीमित नहीं हो सकता। सत्य अपना परिचय देने में स्वयं स्वतन्त्र है।" ये शब्द हैं उन सन्त के, जिनकी अमृत-वाणी इस पुस्तक में संग्रहीत हुई है। इसी अटल सत्य को लक्ष्य में रखकर आग्रह करने पर भी स्वामीजी ने अपना शरीर-सम्बन्धी नाम तथा चित्र इस पुस्तक के साथ देने की अनुमति नहीं दी। इस सत्य का आदर करना मेरे लिए भी अनिवार्य है। अतः जो सत्य स्वामीजी की वाणी के रूप में प्रकट हुआ है, उसके सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ कहने या उसका परिचय देने की चेष्टा करना मेरे लिए धृष्टता होगी। वह तो स्वयं प्रकाश-मय है, और केवल अपना परिचय देने में ही नहीं, वल्कि श्रद्धालु पाठकों के हृदयों को भी आलोकित करने में स्वयं समर्थ है। मुझे जो कुछ कहना है, वह केवल इस संग्रह के विषय में है, क्योंकि इसका एक इतिहास है, जिसका संक्षेप में यहाँ देना अप्रासंगिक न होगा।

सन् १९४० ई० में लखनऊ के कुछ भक्तों को श्री स्वामीजी के सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे भक्त स्वामीजी के शब्द लिपि-बद्ध करते गये। वह संग्रह "सन्त-समागम" के नाम से छप गया। कुछ ही समय बाद सौभाग्य से श्री स्वामीजी का अजमेर में आगमन हुआ और वहाँ मुझे भी उनके दर्शन तथा सत्संग में सम्मिलित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उस सत्संग में उनके मुखारविन्द से निकले उपदेश भी लिख लिए गए। अपने मित्र-वर्ग के लाभार्थ उन्हें छापने का विचार हुआ। खोज करने पर मित्रों की कृपा से स्वामीजी के कुछ पत्र भी प्राप्त हो

गए, जो उन्होंने भक्तों की उलझनें सुलझाने के लिए लिखाए थे। इस प्रकार सन् १९४२ ई० में, लखनऊ से प्रकाशित "सन्त-समागम," अजमेर के उपदेशों का संग्रह और उन पत्रों को मिलाकर सन्त-समागम अपने संवर्द्धित रूप में प्रथम बार अजमेर से प्रकाशित हुआ।

कई पत्रिकाओं ने भी अपनी समालोचनाओं में पुस्तक का हार्दिक स्वागत किया। एक ने लिखा कि 'जटिल से जटिल दार्शनिक तत्त्वों तथा आध्यात्मिक रहस्यों की अभिव्यक्ति इतने सीधे-सादे निर्विवाद ढंग से अन्यत्र देखी नहीं गई"—आदि। अनेक महानुभावों ने सराहा कि भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि मार्गों का स्वामीजी के उपदेशों में अनूठा विवेचन पाया जाता है, एवं जिस सत्य को सभी मार्ग खोजते हैं, पर जो एक प्रकार से मार्गातीत है, उसका संकेत भी अधिकारी-गण इन उपदेशों में पाकर कृतकृत्य होते हैं। कुछ भक्तों की प्रार्थना पर स्वामीजी ने "हमारी आवश्यकता," "शरणागति-तत्व" और "परिस्थिति का सदुपयोग" नाम के तीन निबन्ध भी लिखवाये, जो पृथक्-पृथक् पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित भी हुए। अब ये तीनों पुस्तिकायें, स्वामी जी के अन्य उपदेश, तथा कतिपय अप्रकाशित पत्र संग्रहीत करके सन्त-समागम के दूसरे भाग के रूप में 'मानव सेवा संघ' द्वारा प्रकाशित किए जा रहे हैं।

जयपुर
अनन्त चतुर्दशी,
संवत् २०१० विक्रमीय

मदनमोहन वर्मा
प्रधान,
मानव-सेवा-संघ।

दो शब्द

झरना आपने देखा होगा। प्रकृति की सुरम्य गोद में, पर्वत के अन्तराल से निकल कर अजस्र जलधारा की शत्-शत् लघु उर्मियाँ धरती पर मोती बिखेरती हैं, तो उनकी प्रत्येक लड़ी अवर्णनीय शोभा प्रस्तुत करती है। देखते ही बनता है। दिन मणि-सत-रंगी रश्मियों से रंजित प्रत्येक जलकण अपना अनोखा रूप दिखाता है। जहाँ दृष्टि पड़े, वहीं अटक जाय। किसको देखें ! किसको छोड़ें ! फिर भी सब मिल कर एक झरना है और उसके प्रत्येक कण में एक ही का रस प्रस्फुटित हो रहा है।

सन्त-हृदय के अन्तराल से निकलकर ज्ञान और प्रेम के अजस्र प्रवाह ने एक ऐसी ही अनुपम निर्झरिणी का रूप धारण किया है 'सन्त-समागम भाग २' में। छोटी-छोटी वार्ता जो इसमें संकलित हैं, जीवन के अनमोल मोती हैं। साधकों के विविध प्रश्न और विविध उलझनों के उत्तर में प्रस्तुत उसी एक ही दिव्य-चिन्मय-रसरूप जीवन की विविध झाँकी खुले हृदय और मानस के पाठकों को मन्त्र-मुग्ध कर देती है। आँखें खुल जाती हैं, अन्धकार मिट जाता है! विवेक के प्रकाश में चेतन अचेतन तथा उपचेतन की सब उलझनों का सुलझाव स्पष्ट दिखाई देने लगता है। वस्तुतः ये उक्तियां सीधे उद्गम से निस्सरित हो कर जिज्ञासुओं के अन्तस्तल पर उतरती हैं। ये व्यक्ति, वर्ग, मत, सम्प्रदाय आदि के आग्रहयुक्त जटिल घुमाओं से घूम कर नहीं आतीं कि जिनका अनुसरण करने में साधक दीर्घ काल तक भूल-भुलैयों में ही घूमता रह जाय। जैसे प्रश्न

कर्ताओं के साधन काल में उत्पन्न होने वाले विविध प्रश्नों को सही रूप में प्रस्तुत किया है, वैसे ही ज्ञान और प्रेम के मूल स्रोत से सीधा उत्तर आया है। यह जीवन के सत्य का उन्मुक्त स्पष्टीकरण है। यह प्रमाण-निरपेक्ष सत्य है, जो मानव को अविनाशी-रसरूप जीवन से उसका सीधा (Direct) सम्बन्ध दिखाता है।

आप साधक हैं, तो अपने जीवन के किसी भी प्रश्न पर मत अटकिए। संशय में समय न गंवाइए। सन्त समागम का Guidance लीजिए; सफलता मिलेगी अवश्य।

आइए, राशि-राशि जलकणों के रूप में मुक्ता-मणि बिखरने वाले झरने का अनुसरण करें, तो आगे क्या दिखता है ? अहा ! सब कण मिल कर एक सुन्दर सलिल प्रवाह बनता जा रहा है। अधिकाधिक गहन गम्भीर होता हुआ ग्राम-ग्राम, प्रान्त-प्रान्त को आप्लावित करता हुआ सरस-रस-धार बहा रहा है, सन्त-समागम भाग २/३ में ज्ञान-प्रेम सूत्र-रूपी उक्तियों ने विषय-निरूपण और क्रमबद्ध विवेचन के द्वारा अपेक्षाकृत दीर्घ और गम्भीर रूप धारण किया है। पर है वही, अखण्ड ज्ञान का प्रकाश और अनन्त प्रेम का रस। उस चिरन्तन सत्य से भिन्न कुछ नहीं। कथा, उदाहरण, प्रमाणादि कुछ नहीं। अनुभूत सत्य अपने शुद्ध रूप में अभिव्यक्त है। सच्चे साधक और जिज्ञासु के लिए इसकी उपादेयता अवर्णनीय है।

—देवकी

संत-समागम

भाग २

हमारी आवश्यकता

'अपने लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता कदापि नहीं हो सकती'; क्योंकि भिन्नता से एकता होना सर्वदा असम्भव है। जिस प्रकार श्रवण ने शब्द से भिन्न कुछ नहीं सुना, नेत्र ने रूप से भिन्न किसी भी काल में कुछ नहीं देखा, तथा त्वचा ने स्पर्श से भिन्न, रसना ने रस से भिन्न, एवं नासिका ने गन्ध से भिन्न किसी का अनुभव नहीं किया; क्योंकि श्रवण की आकाश तथा शब्द से, नेत्र की अग्नि तथा रूप से, त्वचा की वायु तथा स्पर्श से, रसना की जल तथा रस से और नासिका की पृथ्वी तथा गन्ध से जातीय एकता है। मन-बुद्धि आदि आन्तरिक इन्द्रियों की श्रवण-नेत्र आदि बाह्य इन्द्रियों से एवं प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय की प्रत्येक कर्मेन्द्रिय से जातीय एकता है।

यदि ऐसा न होता, तो आन्तरिक इन्द्रियों के अनुरूप बाह्य इन्द्रियाँ चेष्टा न करतीं। आन्तरिक एवं बाह्य इन्द्रियों का कारण-कार्य सम्बन्ध है। प्रत्येक कार्य अपने कारण में विलीन होता है। कारण कार्य के बिना भी रह सकता है, किन्तु कार्य कारण के बिना नहीं रह सकता। कारण में

स्वतन्त्रता अधिक होती है और कार्य में गुणों की विशेषता होती है। कारण सूक्ष्म एवं अव्यक्त होता है और कार्य स्थूल एवं व्यक्त होता है। जो सूक्ष्म एवं अव्यक्त होता है, वह स्थूल एवं व्यक्त की अपेक्षा अधिक विभु होता है। इसी कारण आन्तरिक इन्द्रियों की प्रेरणा से ही वाह्य इन्द्रियाँ प्रवृत्त होती हैं।

उसी प्रकार हमारी अपने निज-स्वरूप, नित्य-जीवन से एकता है। अत: हमारे लिए नित्य जीवन का अनुभव करना परम अनिवार्य है। शरीर विश्व से भिन्न नहीं हो सकता और हमारी शरीर से काल्पनिक सम्बन्ध के अतिरिक्त जातीय-एकता कदापि नहीं हो सकती। अर्थात् 'शरीर विश्व से और हम विश्वनाथ से ही अभिन्न हो सकते हैं'; क्योंकि हम स्वभाविक यही कथन और चिन्तन करते हैं कि शरीर हमारा है; 'हम शरीर हैं', ऐसा कोई भी प्राणी कथन नहीं करता।

काल्पनिक सम्बन्ध भी दो प्रकार के होते हैं—भेद-भाव का सम्बन्ध तथा अभेद-भाव का सम्बन्ध। माना हुआ 'मैं' अभेद भाव का सम्बन्ध है और माना हुआ 'मेरा' भेद-भाव का सम्बन्ध है। अभेद भाव का सम्बन्ध केवल अपनी स्वीकृति के आधार पर जीवित रहता है और भेद-भाव का सम्बन्ध माने हुए सम्बन्ध के अनुरूप चेष्टा करने पर प्रतीत होता रहता है। प्रतीति निज-सत्ता के बिना किसी और की सत्ता के आधार पर भी किसी कारणवश हो सकती है। जैसे, मृग-तृष्णा का जल।

जिस प्रकार प्रत्येक मित्र अपने मित्र के दु:ख-सुख से मैत्री सम्बन्ध के कारण, दु:खी-सुखी होकर अपने को दु:खी-सुखी समझने लगता है, उसी प्रकार हम शरीर के सुख-दु:ख आदि स्वभाव को अपने में आरोपित करने लगते हैं। किन्तु हमारी स्वाभाविक अभिलाषा शरीर-सम्बन्ध से पूर्ण नहीं हो पाती। अतः हमको अपने लिए अपने प्रेमपात्र अर्थात् नित्य-जीवन की आवश्यकता शेष रहती है। उसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए हमको अनित्य जीवन से भिन्न नित्य-जीवन की ओर जाना अनिवार्य हो जाता है।

अब हम अपने नित्य-जीवन को कैसे जानें? यह प्रश्न स्वाभाविक उत्पन्न होता है। यद्यपि प्रत्येक प्राणी अपनी स्वीकृति करता है, परन्तु अपने वास्तविक निज-स्वरूप-नित्य-जीवन को जानने से इन्कार करता है। यह कैसे आश्चर्य की बात है! 'स्वाभाविक अभिलाषा से भिन्न अभिलाषी का निज-स्वरूप कुछ नहीं हो सकता'।

अब विचार यह करना है कि हमारी स्वाभाविक अभिलाषा क्या है? प्रत्येक प्राणी अपने में किसी प्रकार की कमी रखना नहीं चाहता; क्योंकि कमी का अनुभव होते ही दु:ख का अनुभव होता है। यद्यपि दु:ख किसी भी प्राणी को प्रिय नहीं है, फिर भी अपने-आप आता है। जो अपने-आप आता है, उससे हमारा हित अवश्य होगा, यदि उसका सदुपयोग किया जाय। क्योंकि यदि दु:ख न आता, तो हम अस्वाभाविक अनित्य जीवन से विरक्त नहीं हो सकते थे। अथवा यों कहो कि हमारी स्वाभाविक अभिलाषा, जो

अस्वाभाविक इच्छाओं द्वारा दबाकर निर्बल बना दी गई थी, सबल न हो पाती। अतः दुःख की कृपा से हम जागृत हो जाते हैं। इस दृष्टि से दुःख आदरणीय अवश्य है।

कोई भी प्राणी तब तक उन्नति नहीं कर सकता, जब तक उसे स्वयं अपनी दृष्टि से अपनी कमी का अनुभव न हो। विचारशील प्राणी कमी का अनुभव कर उसका नितान्त अन्त करने के लिए घोर प्रयत्न करते हैं। अतः हमको अपनी कमी का अन्त करने के लिए अखण्ड प्रयत्न करना चाहिए।

हम कब तक दुखी होते रहते हैं ? जब तक हम किसी को भी अपने से सबल, स्वतन्त्र तथा श्रेष्ठ पाते हैं। 'अतः हमारो पूर्ण स्वतन्त्र, सबल तथा श्रेष्ठ होने को स्वाभाविक अभिलाषा है।' जो स्वतन्त्र है, वही सबल तथा श्रेष्ठ है। यह नियम है कि 'क्रिया से भिन्न कर्ता का स्वरूप कुछ नहीं होता'। जैसे, देखने की क्रिया से भिन्न नेत्र कुछ नहीं है।

अभिलाषा क्रिया है। अतः जो हमारी अभिलाषा है, वही हमारा स्वरूप है। इस दृष्टि से यह सिद्धान्त निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि 'हम पूर्ण स्वतन्त्र, सबल तथा श्रेष्ठ हो सकते हैं, क्योंकि अपने को अपने स्वरूप से कोई भी भिन्न नहीं कर सकता।' अतएव स्वाभाविक अभिलाषा का पूर्ण होना अनिवार्य है।

क्या हमारी स्वाभाविक अभिलाषा की पूर्ति के लिए यह संसार, जो प्रतीत होता है, समर्थ है ? यदि बेचारा संसार समर्थ होता, तो क्या हम इसके होते हुए भी निर्बलता एवं परतन्त्रता आदि बन्धनों में बँधे रहते ? कदापि नहीं। 'हमको

परतन्त्रता, निर्बलता आदि बन्धनों से छुटकारा पाने के लिए केवल अपनी ओर देखना होगा।' हम उसी दोष का अन्त कर सकते हैं, जो हमारा बनाया हुआ है; क्योंकि किसी और की बनाई हुई वस्तु को कोई ओर नहीं मिटा सकता।

जब हम विचार करते हैं, तो यही ज्ञात होता है कि हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति हमारी स्वीकार की हुई अहंता के अनुरूप ही होती है; क्योंकि बेचारी प्रवृत्ति तो अन्त में केवल स्वीकार की हुई अहंता को ही पुष्ट करती है। अतः अहंता से भिन्न प्रवृत्ति नहीं हो सकती। 'जब तक हम दोष-युक्त अहंता को स्वीकार करते रहेंगे, तब तक दोष-युक्त प्रवृत्ति होती ही रहेगी' अर्थात् मिट नहीं सकती। स्वीकृत की हुई अहंता को अपने से अतिरिक्त और कोई परिवर्तित नहीं कर सकता, अर्थात् अस्वाभाविक काल्पनिक सदोष स्वीकृति को हम स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक मिटा सकते हैं। दोष-युक्त अहंता के मिट जाने पर दोष-युक्त प्रवृत्ति शेष नहीं रहती; क्योंकि कारण के बिना कार्य किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हम अपने बनाये हुए दोष का स्वयं अन्त कर सकते हैं, अर्थात् किसी और के बनाये हुए दोष को कोई और नहीं मिटा सकता।

जब हम अपने बनाये दोष का अन्त कर डालेंगे, तब आनन्दघन भगवान् एवं जगत् हमारे साथ अवश्य होंगे, क्योंकि 'निर्दोषता सभी को प्रिय होती है।' अथवा यों कहो कि इस प्रतीत होने वाले जगत् और उस परमात्मा को, जिसकी खोज जगत् करता है, हम अपने में ही पाएँगे; क्योंकि स्वाभाविक अभिलाषा 'है' (अस्ति) की ही होती है। अस्ति-

तत्त्व ही ईश्वर-भक्तों का ईश्वर, जिज्ञासुओं का ज्ञान, तत्त्व-वेत्ताओं का निज-स्वरूप तथा प्रेमियों का प्रेमपात्र है; क्योंकि 'सच्चाई में कल्पना-भेद भले हो हो, वस्तु-भेद नहीं हो सकता।'

अपनी ओर देखने का प्रयत्न क्या है ? अपनी ओर देखने के लिए प्राणी को सबसे प्रथम अपनी स्वाभाविक अभिलाषा को स्थायी करना होगा। ज्यों-ज्यों स्वाभाविक अभिलाषा स्थायी होती जाएगी, त्यों-त्यों अस्वाभाविक इच्छाएँ उसी प्रकार स्वाभाविक अभिलाषा में गलकर विलीन होती जाएंगी, जिस प्रकार वर्फ गलकर जल हो जाती है। जिस प्रकार वर्फ गलकर नदी हो, स्वयं अपने प्रेमपात्र समुद्र से मिलकर अभिन्न हो जाती है, उसी प्रकार सब अस्वाभाविक इच्छाएँ स्वाभाविक नित्यानन्द की अभिलाषा में बदल जाती हैं और स्वाभाविक अभिलाषा अपने प्रेमपात्र आनन्द से अभिन्न हो जाती है। उसको अपने प्रेमपात्र तक पहुँचने के लिए अपने से भिन्न किसी और की सहायता की आवश्यकता कदापि नहीं होती। अर्थात् वह स्वतन्त्रतापूर्वक परम स्वतन्त्र तत्त्व से अभिन्न हो जाती है, क्योंकि 'स्वतन्त्रता प्राप्त करने का साधन कभी परतन्त्रता नहीं हो सकती।' अर्थात् स्वतन्त्रता प्राप्त करने का साधन भी स्वतन्त्र है, क्योंकि स्वतन्त्रता प्राणी की निज की वस्तु है। वह हमारा त्याग कर ही नहीं सकती।

हमारा त्याग वही करता है, जो वास्तव में हमारा नहीं है, अर्थात् जिससे जातीय भिन्नता है। यदि आनन्द से जातीय भिन्नता होती, तो हमको आनन्द की स्वाभाविक

अभिलाषा किसी प्रकार नहीं हो सकती थी। और यदि परतन्त्रता अर्थात् दुःख से जातीय भिन्नता न होती, तो हमको उससे अरुचि न होती। आनन्द की स्वाभाविक अभिलाषा आनन्द से जातीय एकता सिद्ध करने में स्वयं समर्थ है। स्वाभाविक अभिलाषा स्वयं अपनी अनुभूति के बिना नहीं होती और अनुभूति जातीय एकता के बिना नहीं होती। अतः आनन्द अर्थात् स्वतन्त्रता से आनन्द के अभिलाषी को जातीय एकता स्वीकार करना परम अनिवार्य है।

केवल प्रमाद के कारण बेचारा प्राणी स्वतन्त्रता से निराश हो जाता है, जो वास्तव में नहीं होना चाहिए, क्योंकि परतन्त्रतायुक्त जीवन मानवता के विरुद्ध पशुता है। वास्तव में तो परतन्त्रता आदि सभी दोष अपने बनाए हुए खिलौने हैं, जब चाहें स्वयं तोड़ सकते हैं। पूर्ण स्वतन्त्र होने के लिए प्राणी स्वेच्छापूर्वक सर्वदा स्वतन्त्र है, क्योंकि परतन्त्रता को सबलता अपनी ही दी हुई है। 'यदि हम परतन्त्रता स्वीकार न करें, तो बेचारी परतन्त्रता किसी भी प्रकार जीवित नहीं रह सकती'—यह सिद्धान्त नितान्त सत्य है। अतः हमको सत्य का आदर करना चाहिए।

जब हम अपने को किसी-न-किसी सीमित भाव में बाँध लेते हैं, तब हमारे उस सीमित अहंभाव से अनेक प्रकार की अस्वाभाविक इच्छायें उत्पन्न होने लगती हैं और फिर हम उन्हीं इच्छाओं के अनुरूप अपने को वस्तुओं में, अवस्थाओं में एवं परिस्थितियों में बाँध लेते हैं। बस, उसी काल से हमारे हृदय में दीनता तथा अभिमान की अग्नि जलने लगती

है। यदि हम शरीर तथा वस्तु आदि में अपने को न बाँध लेते, तो हमको अपने लिए किसी-भी वस्तु की आवश्यकता न होती। 'वस्तुओं के दासत्व ने हमको नित्य-जीवन से विमुख कर अनित्य जीवन में बाँध दिया है'।

जिस प्रकार परतन्त्रता वास्तव में स्वतन्त्रता की अभिलाषा है, उसी प्रकार अनित्य जीवन नित्य-जीवन की अभिलाषा है, और कुछ नहीं। गहराई से देखिए कि निर्धनता क्या है? धन की अभिलाषा। वैसे ही अस्वाभाविक अनित्य जीवन क्या है? स्वाभाविक नित्य-जीवन की अभिलाषा। यदि हम अपने स्वीकार किए हुए सीमित अहंभाव का अन्त कर डालें, तो हम वर्तमान में ही नित्य-जीवन का अनुभव सुगमतापूर्वक कर सकते हैं। भविष्य की आशा तो हमको केवल तब करनी पड़ती है, जब हम अस्वाभाविक परतन्त्रता-युक्त जीवन का भोग करते हैं, अथवा यों कहो कि भविष्य की आशा तब करनी पड़ती है, जबकि हम संगठन से उत्पन्न होने वाले परिवर्तनशील रस का पान करते हैं। 'जो नित्य-आनन्द केवल 'त्याग' से प्राप्त होता है, उसके लिए भविष्य की आशा करना एकमात्र प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ अर्थ नहीं रखता।'

हम पूर्ण स्वतन्त्र होने के लिए परतन्त्र नहीं हैं। हमारे निज-स्वरूप की, जो सर्वकाल में है, यह महिमा है कि बेचारी परतन्त्रता को भी सान्निध्यमात्र से सत्ता मिल जाती है। यह नियम है कि जिसकी सत्ता भासित होने लगती है, उसमें प्रियता उत्पन्न हो जाती है और प्रियता आते ही अस्वाभाविक परिवर्तनशील जीवन में आसक्ति हो जाती है। बस, यही

परतन्त्रता की सत्ता है, और कुछ नहीं। 'यदि हम स्वयं अपने ऊपर अपनी कृपा करें, तो निर्जीव परतन्त्रता 'स्वतन्त्रता' में विलीन हो सकती है।'

हम सबसे बड़ी भूल यही करते हैं कि जो हमसे भिन्न हैं, उनकी कृपा की प्रतीक्षा करते रहते हैं। भला, जिन बेचारों का जीवन केवल हमारी स्वीकृति के आधार पर जीवित है, उनमें हमारे ऊपर कृपा करने की शक्ति कहाँ ? हम अपनी की हुई स्वीकृति को स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक मिटा सकते हैं। सभी परिवर्तनशील क्रियाओं का जन्म हमारी अस्वाभाविक काल्पनिक स्वीकृति के आधार पर होता है। अतः मानी हुई अहंता अर्थात् सीमित अहंभाव का अन्त होते ही, सभी चेष्टाओं का अन्त हो जाता है। चेष्टाओं का अन्त होने पर हम अपने में ही अपने प्रेमपात्र का अनुभव कर परम स्वतन्त्र हो जाते हैं। क्योंकि हमारी सभी चेष्टायें उसी समय तक जीवित रहती हैं, जब तक हम अपनी पूर्ति के लिए अपने से भिन्न शरीरादि वस्तुओं की आशा करते हैं। और वस्तुओं की आशा तब तक करते हैं, जब तक स्वाभाविक अभिलाषा अस्वाभाविक इच्छाओं को खा नहीं लेती। स्वाभाविक अभिलाषा पूर्णरूप से जागृत हो जाने पर अस्वाभाविक इच्छाएँ, अर्थात् विषय-वासनाएँ भस्मीभूत हो जाती हैं। वस्तु आदि की वासनाएँ निवृत्त होने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। क्योंकि इन्द्रिय, मन आदि यन्त्रों की आवश्यकता तभी तक रहती है, जब तक हम शरीरादि वस्तुओं का दासत्व करते रहते हैं। अर्थात् मन, इन्द्रिय आदि वस्तुओं का संगठन हमको हमारे प्रेमपात्र का

अनुभव नहीं होने देता, प्रत्युत संसार के दासत्व की ओर ही ले जाता है।

'जब हम मन, इन्द्रिय आदि के संगठन से अपने को असंग कर लेते हैं', तब वे बेचारे अचेष्ट होकर हमारे में ही सम हो जाते हैं और हम अपने परम स्वतन्त्र नित्य-जीवन में विलीन हो, अभेदता का अनुभव करते हैं। यह नियम है कि सर्व वासनाओं का अन्त होने पर सर्व चेष्टाओं का, जो कर्ता-भोक्ता-भाव से उत्पन्न होती हैं, अन्त हो जाता है। सर्व चेष्टाओं का अन्त होने पर सर्व वासनाएँ एक ही स्वाभाविक अभिलाषा में विलीन हो जाती हैं। अभिलाषा की पूर्णता, अर्थात् उसकी पूर्ण जागृति, स्वयं अभिलाषी को उसके लक्ष्य से अभिन्न कर देती है। अतः हम चेष्टाओं का अन्त होते ही प्रेमपात्र का अनुभव कर लेते हैं। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार समूल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार स्वाभाविक अभिलाषा की पूर्ण जागृति होते ही परतन्त्रतादि सर्व दोष निर्मूल हो जाते हैं।

यद्यपि प्रवृत्तियों के बदलने से भी अहंता बदल जाती है, परन्तु अहंता के बदलने से प्रवृत्ति समूल बदल जाती है; क्योंकि प्रवृत्ति परिवर्तन द्वारा अहंता बदलना, अहंता-परिवर्तन द्वारा प्रवृत्ति बदलने की अपेक्षा अधिक कठिन है। प्रवृत्तियों के निरोध से तो स्वीकृत किया हुआ सीमित अहंभाव स्वाभाविक परम पवित्र स्वतन्त्र निर्विकार नित्य-तत्त्व में वैसे ही स्थित हो जाता है, जैसे कि बीज अपना स्वभाव जीवित रखते हुए भी गलकर पृथ्वी, जल आदि सभी तत्त्वों में स्थित हो जाता है। अपने में स्थित हुए बीज को पृथ्वी, जल आदि सभी

तत्त्व उसके स्वभावानुसार सर्वदा सत्ता देकर विकसित करते रहते हैं, उसी प्रकार निर्विकार नित्य-तत्त्व अपने में स्थित सीमित अहंभाव को सत्ता देकर सर्वदा उसके अस्वाभाविक अनित्य जीवन को उसी के स्वभावानुसार प्रकाशित करता रहता है।

यदि मानी हुई अहंता को स्वीकार न किया जाय, तो सीमित अहंभाव निर्विकार नित्य-तत्त्व से उसी प्रकार अभिन्न हो जाता है, जिस प्रकार कि अग्नि से दग्ध बीज अपने स्वभाव को मिटाकर पृथ्वी इत्यादि तत्त्वों से अभिन्न हो जाता है। 'अतः हमको लेशमात्र भी नित्य-जीवन से निराश नहीं होना चाहिए। नित्य-जीवन तो हमारी निज की सम्पत्ति है, क्योंकि वही हमारे काम आती है।'

गहराई से देखिए, अस्वाभाविक जीवन की ऐसी कोई भी अवस्था नहीं है, जिसके बिना हम नहीं रह सकते, अर्थात् हम अनित्य जीवन की सभी अवस्थाओं के बिना रह सकते हैं। हम उसी का त्याग करते हैं, जो हमारी निज की वस्तु नहीं है।

'जब हम अपनी अनुभूति का निरादर करते हैं, तब निजानन्द से विमुख हो, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में फँस जाते हैं।' इन सभी अवस्थाओं के बिना हम रह सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक अवस्था के अभाव तथा परिवर्तन का हम सर्वदा अनुभव करते हैं। यदि ऐसा न होता, तो न तो हम जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं की गणना कर सकते और न अवस्थाओं के परिवर्तन को ही जान पाते। हम गणना उसी को कर सकते हैं, जो हमसे भिन्न हो,

अर्थात् हम जिसके साक्षी हों। अत: जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओं के बिना हम सर्वदा स्वतन्त्रतापूर्वक रह सकते हैं। 'यह अखण्ड नियम है कि भिन्नता से एकता होना सर्वदा असम्भव है।' अतः हमको अपने लिए जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि किसी भी अवस्था की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है। अवस्थाओं से तो केवल हमारी मानी हुई एकता है। परन्तु यह कैसी विचित्र बात है कि ये अवस्थाएँ, जिनकी सत्ता केवल हमारी स्वीकृति के आधार पर जीवित है, हमारी सत्ता से ही सत्ता पाकर हमारे ऊपर ही शासन करने लगती हैं! 'मानी हुई एकता अस्वीकृत होते ही मिट जाती है।' अवस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही हम सुगमतापूर्वक नित्य-जीवन का अनुभव कर कृतकृत्य हो जाते हैं।

अतः निजानन्द के लिए अपनी अनुभूति का आदर हमारे लिए परम अनिवार्य है। ज्यों-ज्यों हम अपनी अनुभूति का आदर करते जाएँगे, त्यों-त्यों अनुभूति स्वयं बढ़ती जाएगी। अनुभूति का आदर करने से मस्तिष्क और हृदय की एकता हो जाएगी। 'जब बुद्धि और हृदय एक हो जाते हैं, तब सारा जीवन ही साधन हो जाता है', साधन जीवन का अङ्गमात्र नहीं रहता। जीवन साधन होने पर क्रिया-भेद होने पर भी लक्ष्य भेद नहीं होता और न प्रीतिभेद होता है। जैसे, शरीर के सभी अङ्गों के साथ क्रिया-भेद होने पर भी प्रीति समान ही होती है। शरीर के सभी अङ्ग एक काल में एक ही संकल्प के अनुसार क्रिया करते हैं, अर्थात् दृढ़-संकल्प होने पर इन्द्रियादि कोई भी अङ्ग सङ्कल्प का विरोध नहीं करते, बल्कि

सब मिलकर कर्ता के अनुरूप ही कार्य करते हैं। वैसे ही जब 'हमारा जीवन ही साधन हो जाएगा, तब हमारी सारी चेष्टाएँ हमारे परम प्रेमास्पद निज-स्वरूप के लिए ही होंगी।' यद्यपि कर्ता एक है और उसका लक्ष्य भी एक है, परन्तु जीवन साधन न होने के कारण हमारी सभी क्रियाएँ एक ही लक्ष्य में विलीन नहीं हो पातीं अर्थात् भिन्न-भिन्न अर्थ रखती हैं, जिससे हम अनेक वासनाओं में बँधकर भटकते रहते हैं।

हम आरम्भ में ही कह चुके हैं कि हमको अपने से भिन्न की आवश्यकता किसी प्रकार नहीं हो सकती। परन्तु हमने अपने को शरीर से बाँध लिया है और वह शरीर विश्व की वस्तु है; अतः उसे प्रसन्नतापूर्वक विश्व को दे देना चाहिए। हम जब विश्व की वस्तु को किसी काल्पनिक समाज, राष्ट्र एवं सम्प्रदाय को दे देते हैं, तब विश्व में घोर अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। इस अशान्ति का मूल कारण यही है कि जो विश्व की वस्तु है, उसे हम विश्व को नहीं देते। हम स्वयं बन्धन में पड़कर विश्व के प्राणियों को भी बन्धन में डालते हैं। यदि हमारे में किसी प्रकार का दासत्व न होता, तो हम किसी को भी परतन्त्र करने का प्रयत्न न करते। 'जो स्वयं स्वतन्त्र है, वह किसी को परतन्त्र नहीं करता'।

'हम कोई भी बुराई दूसरों के साथ ऐसी नहीं कर सकते, जो प्रथम अपने साथ नहीं कर लेते।' अर्थात् कर्ता बुरा होकर बुराई करता है, क्योंकि क्रिया कर्ता का कार्य है। यद्यपि दोष-युक्त प्रवृत्ति से भी कर्ता में दोष आ जाता है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से तो यही ज्ञात होता है कि दोष-युक्त अहंता होने पर दोष-युक्त प्रवृत्ति होती है। अर्थात् प्रवृत्ति

से पूर्व अहंता बदल जाती है। अतः दोष-युक्त व्यक्ति ही विश्व में दोष-युक्त प्रवृत्ति उत्पन्न करते रहते हैं। यद्यपि हमको अहंभाव अत्यन्त प्रिय है, परन्तु दोष-युक्त प्रवृत्ति की आसक्ति के कारण हम परम प्रिय अहंभाव को सदोष बना देते हैं, अर्थात् 'हम अपने आप ही अपने पर अत्याचार करते हैं'।

हमको स्वयं अपनी दृष्टि से अपने को देखना चाहिए कि हम स्वयं दुःखी होकर दूसरों को दुःख देते हैं। यह नियम है कि 'जो हम देते हैं, वह कई गुना अधिक होकर फिर प्रतिक्रिया रूप में हमारे पास आ जाता है।' अतः ज्यों-ज्यों हम दूसरों को दुःख देते रहते हैं, त्यों-त्यों स्वयं अधिक दुःखी होते रहते हैं और ज्यों-ज्यों दुःखी होते रहते हैं, त्यों-त्यों समाज को पुनः दुःख देते रहते हैं। जिस प्रकार बीज और वृक्ष का चक्र चलता ही रहता है, उसी प्रकार हमारे दुःख का चक्र भी चलता ही रहता है। हम प्रमादवश सुखासक्ति के कारण दूसरों को दुःख देते हैं। 'भला, जिस सुख का जन्म किसी के दुःख से होगा, वह अन्त में हमको दुःख के अतिरिक्त और क्या दे सकता है ! क्योंकि यह नियम है कि 'जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, अन्त में उसमें ही विलीन हो जाती है।' अतः किसी के दुःख से उत्पन्न होनेवाला सुख अन्त में दुःख में ही विलीन होगा। इसी कारण विचारशील उस सुख का भोग नहीं करते, जो किसी का दुःख हो, प्रत्युत उस दुःख को प्रसन्नतापूर्वक अपना लेते हैं, जो किसी का सुख हो।

'हमारे दुःखी होने से केवल हमी को दुःख नहीं होता, बल्कि हम विश्व में भी दुःख उत्पन्न करते रहते हैं।' यदि हम

दुःखी न रहेंगे, तो हमारे जीवन से किसी को भी दुःख न होगा। अतः हमको अपने दुःख का अन्त करना परम अनिवार्य हो जाता है। विचार से उत्पन्न होने वाला दुःख उन्नति का कारण होता है, क्योंकि वह पूर्ण दुःख होता है और सुख के लालच से उत्पन्न होनेवाला दुःख अवनति का कारण होता है, क्योंकि वह अधूरा दुःख होता है। पूर्ण दुःख यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करने में समर्थ होता है। पूर्ण दु.खी किसी दूसरे को दुःख नहीं देता। इन्द्रिय-लोलुप, सुखासक्त प्राणी ही दूसरों को दुःख देता है।

'जब हम अपने को अपने प्रेमपात्र को, और शरीर विश्व को दे डालेंगे, तो बस, दुःख का अन्त हो जाएगा।' विश्व को शरीर की आवश्यकता है, क्योंकि शरीर विश्व की वस्तु है। प्रमपात्र हमारी प्रतीक्षा करते हैं, क्योंकि हम प्रेम-पात्र के हैं। यदि वे हमारी प्रतीक्षा न करते, तो हमको आनन्दघन प्रेमपात्र की स्वाभाविक अभिलाषा न होती। यह नियम है कि हमको स्वतः उसी का स्मरण होता है, जो हमको प्यार करता है। अतः हमारे प्रेमपात्र हमको अपनाने के लिए हमारी प्रतीक्षा करते हैं। यद्यपि वे हमारे बिना भी सब प्रकार से पूर्ण हैं, किन्तु हमें अपनाने के लिए सदा हमारी प्रतीक्षा करते रहना उनकी अहैतुकी कृपामात्र है।

भला, क्या हमको यह शोभा देता है कि हम अपने प्रेमपात्र की ओर नहीं देखते, जो हमारी निरन्तर प्रतीक्षा कर रहे हैं? हम इसीलिए दुःखी हैं कि हमारे प्रेमपात्र हमारे बिना दुःखी हैं। 'उनको हमारे बिना और हमको उनके बिना चैन मिल ही नहीं सकता।' विश्व की वस्तु जब हम विश्व

को दे डालेंगे, तो विश्व भी हमसे प्रसन्न हो जाएगा। दोनों के प्रसन्न होने से हम भी प्रसन्न रहेंगे, अर्थात् हम सर्वदा के लिए निश्चिन्त, निर्भय तथा आनन्दित हो जाएँगे।

'हमको जो कुछ करना चाहिए, वह हम कर सकते हैं।' यदि न कर सकते होते, तो करने की रुचि न उत्पन्न होती। करने की रुचि स्वयं करने की शक्ति प्रकाशित करती है। यह नियम है कि जब तक कारण रहता है, तब तक कार्य अवश्य रहता है। आवश्यकता कारण है और कर्तव्य-पालन कार्य है। आवश्यकता के होते हुए यदि हम यह कहते हैं कि हम कुछ नहीं कर सकते, तो हम स्वयं अपनी दृष्टि में अपने को धोखा देते हैं।

विश्व हमसे वही आशा करता है और ईश्वर वही आज्ञा देता है, जो हम कर सकते हैं। 'जो हम नहीं कर सकते, उसके लिए न तो विश्व हमसे आशा कर सकता है और न ईश्वर की ही आज्ञा हो सकती है।' अतः हमको अपने में-से यह बिलकुल निकाल देना चाहिए कि हम कुछ नहीं कर सकते। 'हम जो कुछ कर सकते हैं, उससे ही हमारा अभीष्ट प्राप्त हो सकता है।'

यह निर्विवाद सत्य है कि 'जो कुछ हम कर सकते हैं, उसे न करना', इसके सिवाय अकर्तव्य और कुछ नहीं है। क्योंकि जब हम वह नहीं करते, जो करना चाहिए, तब उसके विपरीत करते हैं। कर्तव्य से विपरीत करना ही अकर्तव्य है। आवश्यकता होते हुए हम कुछ-न-कुछ अवश्य करते रहेंगे। हाँ, यह अवश्य है कि आवश्यकता शेष न रहने पर करने की

शक्ति नहीं रहती, क्योंकि क्रिया भाव में और भाव लक्ष्य में विलीन हो जाता है। करना साधन है, साध्य नहीं। साध्य मिलने पर साधन शेष नहीं रहता, क्योंकि फिर साधन साध्य से अभिन्न हो जाता है।

अतः हमको जो कुछ करना चाहिए, उसकी शक्ति तथा ज्ञान हममें विद्यमान है। हमको अपने में से ही अपनी छिपी हुई शक्ति को विकसित करना है। वह हम तब कर सकते हैं, जब अपनी योग्यतानुसार अपना अध्ययन कर लें। जब तक हम अपना अध्ययन नहीं करेंगे, तब तक शास्त्रों का अध्ययन केवल हमारी बुद्धि का व्यायाम होगा, और कुछ नहीं। जिस प्रकार रोग का यथार्थ निदान होने पर ही उचित औषधि निर्धारित की जा सकती है, उसी प्रकार शास्त्र, आचार्य आदि हमारे अनुकूल तब हो सकते हैं, जब हम अपना यथार्थ अध्ययन कर लें।

अपना अध्ययन करने के लिए सबसे प्रथम हमको मानी हुई सत्ता को अस्वीकार करना होगा, अथवा माने हुए भाव के अनुरूप स्वधर्म-निष्ठा करनी होगी। मानी हुई सत्ताओं को अस्वीकार करने से अनित्य जीवन निर्जीव हो जाएगा और माने हुए भाव के अनुरूप जीवन होने पर मानी हुई सत्ता से असंगता तथा विरक्ति आ जाएगी, अर्थात् मानी हुई सत्ताओं को अस्वीकार करने की शक्ति आ जाएगी; क्योंकि भाव का जीवन क्रिया के जीवन से ऊपर उठा देता है और भाव का जीवन पूर्ण होने पर ज्ञान का जीवन आरम्भ हो जाता है। क्रिया का जीवन ही पशु-जीवन है, भाव का जीवन ही मानव-जीवन है और ज्ञान का जीवन ही ऋषि-जीवन है।

जब हम मानी हुई सत्ताओं को अस्वीकार नहीं कर सकते, तब हमको माने हुए भाव के अनुरूप जीवन करना अनिवार्य हो जाता है, जिससे मानी हुई सत्ताओं को अस्वीकार करने की शक्ति आ जाती है। मानी हुई सत्ताएं सभी सीमित तथा अनित्य होती हैं। हमारी स्वाभाविक अभिलाषा नित्य जीवन की है। अतः नित्य जीवन के लिए अनित्य जीवन का अन्त करना परम आवश्यक हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अन्धकार शेष नहीं रहता अथवा यों कहो कि प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार अनित्य जीवन का अन्त होते ही नित्य जीवन का अनुभव हो जाता है। नित्य-जीवन से मानी हुई दूरी और अनित्य जीवन से मानी हुई एकता है। यदि अनित्य जीवन से मानी हुई एकता न होती, तो उससे अरुचि न होती और नित्य जीवन से जातीय एकता और मानी हुई दूरी यदि न होती, तो उससे नित्य-निरन्तर रुचि न होती; क्योंकि नित्यता सर्वदा सभी को प्रिय है। रुचि तथा अरुचि किसी-न-किसी प्रकार की एकता और किसी-न-किसी प्रकार की भिन्नता होने पर ही होती है।

गहराई से देखिए, अस्वाभाविक अनित्य जीवन केवल दो प्रकार की—भोग और अमरत्व की, इच्छाओं का समूह है। अनित्य जीवन परिवर्तनशील विषयों की ओर ले जाता है, इसीलिए उस जीवन का नाम अनित्य जीवन है। बेचारा अनित्य जीवन विषयों की ओर ले तो जाता है, परन्तु विषयों को प्राप्त नहीं करा पाता, क्योंकि विषयों में प्रवृत्त होने पर शक्तिहीनता तो होती है, प्राप्त कुछ नहीं होता। हमको शक्तिहीन देखकर विषय हमारा स्वयं त्याग कर देते हैं। हम

आसक्तिवश विषयों के तिरस्कार-युक्त व्यवहार को सहन करते रहते हैं। हमारा तिरस्कार वही करता है, जो हमारा नहीं है। हमारे तिरस्कार को देख, हमारा प्रेमपात्र—नित्य-जीवन—निवृत्ति द्वारा हमें अपना लेता है। उसके अपनाते ही हमको पुनः शक्ति मिल जाती है। हम विषयों के दासत्व के कारण बार-बार विषयों में प्रवृत्त होते रहते हैं और ठुकराए भी जाते हैं। हमने अपना मूल्य कम कर दिया है और अपने प्रेमपात्र—नित्य-जीवन—का निरादर किया है, क्योंकि उसके अपना लेने पर भी विषयों की ओर दौड़ते हैं। इसी महा पाप के कारण अपने को स्वयं अपनी दृष्टि में निन्दनीय पाते हैं। यह बड़े दुःख की बात है।

नित्य-जीवन अनित्य जीवन पर शासन नहीं करता, प्रत्युत प्रेम करता है। शासन वह करता है, जो सीमित होता है। नित्य-जीवन असीम है। अथवा यों कहो कि शासन वह करता है, जिसकी सत्ता किसी संगठन से उत्पन्न होती है। जो अपने-आप अपनी महिमा में नित्य स्थित है, वह सर्वदा स्वतन्त्र है, पूर्ण है और असीम है। वह किसी पर शासन नहीं करता, प्रेम करता है। यदि नित्य-जीवन प्रेम न करता, तो स्वयं निवृत्ति द्वारा अपनाता नहीं और यदि शासन करता, तो हमको हमारी रुचि के अनुसार शक्ति देकर विषयों की ओर न जाने देता।

जब हम अपनी दृष्टि से प्रेमपात्र के प्रेम को, और विषयों की ओर से होने वाले तिरस्कार को देख लेते हैं, तब हमको विषयों से अरुचि और प्रेमपात्र की रुचि हो जाती है। बस, उसी काल में प्रेमपात्र हमको अपने से अभिन्न कर लेते हैं।

विचार-दृष्टि से देखिए कि प्रत्येक प्रवृत्ति की निवृत्ति बिना ही प्रयत्न स्वतः होती है। अतः स्वयं आने वाली निवृत्ति, जो प्रवृत्ति की अपेक्षा सबल एवं स्वतन्त्र है, अनित्य जीवन की वस्तु नहीं हो सकती। शक्तिहीन होने पर अनित्य जीवन शक्ति संचय के लिए कुछ कर नहीं सकता। अतः शक्ति भी अनित्य जीवन की वस्तु नहीं हो सकती; क्योंकि निवृत्ति काल में किसी प्रकार प्रवृत्ति शेष नहीं रहती। यह हमको अनेक घटनाओं से अनुभव होता है कि निवृत्ति के बिना पुनः प्रवृत्ति के लिए शक्ति नहीं आती। बेचारा अनित्य जीवन तो केवल शक्ति का दुरुपयोग ही करता है, और कुछ नहीं कर पाता, क्योंकि बेचारे को विषय-सत्ता भी प्राप्त नहीं होती। विषयों की प्रवृत्ति विषयों से दूरी सिद्ध करती है, क्योंकि प्रवृत्ति एक प्रकार की क्रिया है। क्रिया लक्ष्य के अप्राप्ति-काल में ही होती है।

बेचारा अनित्य जीवन, न मालूम कब से विषयों की ओर दौड़ता है, परन्तु पकड़ नहीं पाता ! जब हम पूछते हैं कि क्यों दौड़ते हो ? तो हमको यही उत्तर मिलता है कि दौड़ने की आदत पड़ गई है। 'आदत' अभ्यास-जन्य आसक्ति के अतिरिक्त, और कुछ नहीं है। अभ्यास का जन्म अस्वाभाविक माने हुए अहंभाव से होता है। अस्वाभाविक अहंभाव का अन्त कर देने पर अभ्यास-जन्य आसक्ति समूल नष्ट हो जाती है; क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता। अभ्यास-जन्य आसक्ति अस्वाभाविक सीमित अहंभाव में अर्थात् अनित्य जीवन में सद्भाव के सिवाय और कुछ नहीं है, क्योंकि यदि परिवर्तन में अपरिवर्तन-भाव न हो, तो आसक्ति कदापि नहीं हो सकती। सीमित अहंभाव से कामनाओं का जन्म होता है।

जिस प्रकार बीज में अनन्त वृक्ष छिपे रहते हैं, उसी प्रकार सीमित अहंभाव में अनन्त कामनाएँ छिपी रहती हैं। कामनाओं की उत्पत्ति में दुःख और पूर्ति में सुख प्रतीत होता है। यहाँ पूर्ति का अर्थ प्राप्ति नहीं, बल्कि प्रवृत्ति है, क्योंकि जब कामना प्रवृत्ति का स्वरूप धारण करती है, तब कर्ता को सुख प्रतीत होता है। प्रतीति समीपत्व सिद्ध करती है, एकता नहीं। अत्यन्त समीपता होने पर भी कुछ-न-कुछ दूरी शेष रहती है। अतः प्रवृत्ति प्राप्ति नहीं हो सकती।

कामनाओं की निवृत्ति में आनन्दघन नित्य-जीवन का अनुभव होता है। कामनाओं की पूर्ति कर्म अर्थात् संगठन से होती है और कामनाओं की निवृत्ति यथार्थ-ज्ञान अर्थात् तत्व-ज्ञान से होती है, क्योंकि कामनाओं की उत्पत्ति का मूल कारण अज्ञान अर्थात् ज्ञान की कमी है। पूर्ति और निवृत्ति में यही भेद है कि पूर्ति से कामनाओं की पुनः उत्पत्ति होती है, पर निवृत्ति से नहीं। 'यथार्थ-ज्ञान' त्याग और प्रेम से होता है। दुःखी प्राणी में त्याग और प्रेम विचार से, और सुखी प्राणी में त्याग और प्रेम सेवा से होते हैं, क्योंकि जो स्वयं दुःखी है, वह सेवा नहीं कर सकता, किन्तु विचार कर सकता है। बेचारे सुखी प्राणी में सुखासक्ति के कारण विचार का उदय नहीं होता, प्रत्युत वह सेवा कर सकता है।

कर्म देहाभिमान को जाग्रत करता है, और सेवा स्वाभिमान को। देहाभिमान अनित्य जीवन की ओर, और स्वाभिमान नित्य-जीवन की ओर ले जाता है। बड़े-से-बड़ा कर्म भी छोटी-से-छोटी सेवा के समान नहीं हो सकता, क्योंकि

वेचारा कर्माभिमानी तो सर्वदा फल के लिए दीन रहता है। प्रत्येक कर्म सीमित अहंभाव की पुष्टि के लिए होता है, क्योंकि कर्म के आरम्भ में कर्ता जिस अहंता को स्वीकार करता है, कर्म अन्त में उसी अहंता को सिद्ध करता है। मानी हुई सभी अहंताएं सीमित तथा परिवर्तनशील होती हैं। अतः इस दृष्टि से वेचारे कर्म का फल अनित्य ही होता है।

सेवा विश्व की पूर्ति के भाव से होती है। यह नियम है कि जो क्रिया दूसरों की पूर्ति के भाव से की जाती है, उसका राग कर्ता पर अंकित नहीं होता; और जिस क्रिया का राग कर्ता पर अंकित नहीं होता, उसकी कामना नहीं होती। अतः 'सेवा' त्याग और प्रेम को उत्पन्न करने में समर्थ है। कर्माभिमानी में सर्वदा कामनाएं निवास करती हैं। वेचारा कामना-युक्त प्राणी विषयों के दासत्व से छुटकारा नहीं पाता। सेवक में सर्वदा ऐश्वर्य तथा माधुर्य निवास करते हैं, क्योंकि ऐश्वर्य तथा माधुर्य के बिना सेवा हो ही नहीं सकती। ऐश्वर्य तथा माधुर्य सर्वशक्तिमान सच्चिदानन्दघन भगवान् का स्वरूप है। ज्यों-ज्यों सेवा-भाव सवल होता जाता है, त्यों-त्यों विषयासक्ति अर्थात् विलासिता गलती जाती है; और ज्यों-ज्यों विलासिता मिटती जाती है, त्यों-त्यों ऐश्वर्य-माधुर्य का प्राकट्य होता जाता है। फिर किसी प्रकार की कमी शेष नहीं रहती, अर्थात् दुःख की अत्यन्त निवृत्ति होकर, परम पवित्र आनन्दघन नित्य-जीवन का अनुभव होता है।

जिस प्रकार प्रकाश अन्धकार को खा लेता है, उसी प्रकार विचार अविचार को खा लेता है। अविचार के मिटते ही

अविचार का कार्य अर्थात् 'राग-द्वेष' त्याग और प्रेम में बदल जाता है, क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं रहता।

जैसे भूख भोजन को खा लेती है, या जिस प्रकार आयु की पूर्णता आयु नहीं, बल्कि मृत्यु होती है, उसी प्रकार त्याग और प्रेम की पूर्णता यथार्थ-ज्ञान होता है। यह नियम है कि नित्य-जीवन से भिन्न उत्पन्न होने वाली सभी सत्ताएं उसी समय तक जीवित रहती हैं, जब तक पूर्ण नहीं होतीं। पूर्ण होने पर उनसे अरुचि होकर स्वाभाविक अभिलाषा जागृत हो जाती है।

सुख और दुःख दोनों ही अनित्य जीवन की वस्तुएं हैं। सुख प्राणी को परतन्त्रतारूप सुदृढ़ शृंखला में बाँध लेता है। गहराई से देखिए, ऐसा कोई सुख नहीं होता कि जिसका जन्म किसी के दुःख से न हो। इस दृष्टि से सभी सुखी दुखियों के ऋणी हैं, क्योंकि सुख दुखियों की दी हुई वस्तु है। यदि हम सुखी प्राणी दुखियों की दी हुई वस्तु दुखियों को सम्मान-पूर्वक भेंट न करेंगे, तो हम दुखियों के ऋण से मुक्त नहीं हो सकते। भला, कहीं ऋणी प्राणी को शक्ति तथा शान्ति मिल सकती है ? कदापि नहीं।

जब हम विचार करते हैं, तो हमको यही ज्ञात होता है कि हमको सुख भी दुखियों की कृपा से मिला था और सुख के बन्धन से हम दुखियों की सेवा से ही छुटकारा पा सकते हैं। इस दृष्टि से दुःखी हमारे लिए परम आदरणीय हैं। यदि कोई यह कहे कि सुख तो हमारे कर्म का फल है, तो भला, बताओ तो सही कि आप जिस अंश में किसी दूसरे को दुःखी नहीं

पाते, क्या उस अंश में आप सुख का अनुभव करते हैं ? कदापि नहीं।

गहराई से देखिए, कर्म से उत्पन्न होने वाली प्रत्येक परिस्थिति तथा अवस्था दुःखमयी व अपूर्ण है। उस दुःखमय अवस्था में भी आप अपने से अधिक दुखियों को देखकर सुख का रस ले लेते हैं। तो भला बताओ, वह सुख आपके कर्म का फल हुआ, अथवा दुखियों का दिया हुआ प्रसाद ?

हम परम प्रिय दुखियों की सत्ता से ही सुखरूप थकावट का रस ले लेते हैं। क्या हम अपनी दृष्टि में तब तक ईमानदार हो सकते हैं, जब तक परम प्रिय दुखियों को न अपना लें ? कदापि नहीं। सुख की सार्थकता यही है कि दुखियों के काम आ जायँ। क्या यही हमारी योग्यता है कि जिन सुखियों से हम दुःखी होते हैं, उनका दासत्व स्वीकार करें, और जिन दुखियों की कृपा से सुख तथा आनन्द दोनों ही पाते हैं, उनको तिरस्कार कर अपने को अभिमान की अग्नि में जलाएं ? हमारी इस योग्यता को अनेक बार धिक्कार है !

हम अपनी निर्बलता छिपाने के लिए बेचारे दुःखी प्राणियों पर पशुबल से शासन करते हैं, और अपने से अधिक शक्ति-शालियों का दासत्व स्वीकार करते हैं। हमारा पशुबल न तो हमारी निर्बलता को ही छिपा सकता है, और न दुखियों को छिन्न-भिन्न कर सकता है, क्योंकि जिस निर्बलता को हम अपने से ही नहीं छिपा सकते, भला उसे विश्व से कैसे छिपा सकते हैं ? जैसे पृथ्वी में छिपा हुआ बीज बृहत्‌रूप धारण कर लेता

है। वैसे ही हममें छिपी हुई बुराई बृहत्‌रूप धारण कर लेती है।

निर्बलता मिटाई तो जा सकती है, परन्तु छिपाई नहीं जा सकती। दुखियों के शरीर आदि वस्तुओं को छिन्न-भिन्न कर देने से उनका अन्त नहीं हो जाता, क्योंकि सूक्ष्म तथा कारण शरीर शेष रहते हैं। यदि हम किसी के स्थूल शरीर को नष्ट भी कर दें, तो भी वह प्राणी जिस भाव को लेकर स्थूल शरीर का त्याग करता है, उसी भावना के अनुरूप प्रकृति माता से अथवा यों कहो कि जगत्-कारण से शक्तिसंचय कर, हमसे अधिक शक्तिशाली हो, हमारा विरोध करने के लिए हमारे सामने आ जाता है। अतः हम पशुबल से दुखियों को छिन्न-भिन्न भी नहीं कर सकते और न अपनी निर्बलता को छिपा या मिटा सकते हैं। हमारे इस पशुबल को बार-बार धिक्कार है!

अब विचार यह करना है कि हमारी निर्बलताएँ किस प्रकार मिट सकती हैं। जिस प्रकार बालक के रोने से ही चोर भाग जाता है, उसी प्रकार निबलता को 'निर्बलता' जानने पर निर्बलता भाग जाती है, क्योंकि वह हममें उसी समय तक निवास करती है, जब तक हम उसे अपनी दृष्टि से देख नहीं पाते। यदि निर्बलता हमारी निज की वस्तु होती; तो उसके मिटाने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। यदि उसके मिटाने का प्रश्न उत्पन्न हो रहा है, तो इससे यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि उससे हमारी जातीय भिन्नता है, एकता नहीं है। एकता तो केवल प्रमादवश स्वीकार कर ली गई है। यह स्वीकृति कब से है और क्यों है, इसका कुछ पता नहीं। परन्तु

जिससे जातीय भिन्नता है, उसका अन्त हम अवश्य कर सकते हैं।

सभी अस्वाभाविक संयोग, जो केवल स्वीकृति से जीवित हैं, निरन्तर स्वाभाविक वियोग की अग्नि में जल रहे हैं। यदि हम संयोग-काल में ही वियोग का अनुभव कर लें, तो संयोग से उत्पन्न होने वाला रस हम पर अपना अधिकार न कर सकेगा। उसके अधिकार न करने से भोगत्व नष्ट हो जाएगा और हमें स्वाभाविक नित्य-योग प्राप्त हो जाएगा। शक्ति संचय करने के लिए योग कल्पतरु के समान है। यदि सब प्रकार की निर्बलताओं का अन्त करने के लिए सद्भाव-पूर्वक हमारी अभिलाषा उत्पन्न हो गई है, तो हमको अपने प्रेमपात्र निज-स्वरूप से योग द्वारा वह शक्ति अवश्य मिल जाएगी, जिससे सभी निर्बलताओं का नितान्त अन्त हो जाएगा।

भोग से अरुचि होने पर योग, और भोक्ता का अन्त होने पर तत्त्वज्ञान अर्थात् नित्य-जीवन का अनुभव होता है। 'योग' स्थिति है, 'ज्ञान' स्वरूप है। स्थिति का उत्थान होता है, पर स्वरूप का उत्थान नहीं होता। निर्विकल्प-स्थिति आदि सभी अवस्थाएँ हैं। हाँ, 'निर्विकल्प-स्थिति' जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं सविकल्प-स्थिति आदि सभी अवस्थाओं से श्रेष्ठ अवश्य है। परन्तु निर्विकल्प-ज्ञान होने पर हम अपने में किसी प्रकार का अवस्था-भेद नहीं पाते, अर्थात् सभी अवस्थाओं से अतीत हो जाते हैं। निर्विकल्प ज्ञान स्वरूप है और निर्विकल्प-स्थिति अवस्था है। स्वरूप का उत्थान नहीं होता, क्योंकि तीनों

प्रकार के शरीरों—स्थूल, सूक्ष्म, कारण—से पूर्ण असंगता होने पर स्वरूप-ज्ञान होता है। निर्विकल्प-स्थिति में कारण शरीर से लेशमात्र सम्बन्ध रहता है, इसी कारण दीर्घकाल समाधिस्थ रहने पर भी उत्थान सम्भव है।

यह नियम है कि अवस्थाओं से सम्बन्ध बने रहने पर किसी प्रकार भी सीमित अहंभाव का अन्त नहीं होता, जो निर्बलता, परतन्त्रता आदि सभी दोषों का मूल है। विचार-दृष्टि से देखने पर यह भलभाँति ज्ञात होता है कि बड़ी-से-बड़ी अवस्था भी किसी अवस्था की अपेक्षा ही श्रेष्ठ होती है। अवस्था-भेद मिटते ही हम नित्य-जीवन एवं नित्य-जागृति का अनुभव कर अमरत्व को प्राप्त होते हैं। अर्थात् हम अपने परम प्रेमास्पद को अपने से भिन्न नहीं पाते; वियोग का भय लेश-मात्र भी नहीं रहता। विश्व केवल हमारी एक अवस्था के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता। अतः विश्व तथा विश्व-नाथ दोनों को हम अपने में ही पाते हैं।

ओ३म् आनन्द ! आनन्द !! आनन्द !!!

शरणागति-तत्त्व

शरण—

'शरण' सफलता की कुँजी है, निर्बल का बल है, साधक का जीवन है, प्रेमी का अन्तित प्रयोग है, भक्त का महामन्त्र है, आस्तिक का अचूक अस्त्र है, दु:खी की की दवा है, पतित की पुकार है। वह निर्बल को बल, साधक को सिद्धि, प्रमी को प्रेमपात्र, भक्त को भगवान्, आस्तिक को अस्ति, दु:खी को आनन्द, पतित को पवित्रता, भोगी को योग, परतन्त्र को स्वातन्त्र्य, बद्ध को मुक्ति, नीरस को सरसता और मर्त्य को अमरता प्रदान करती है।

आवश्यकता की पूर्ति—

प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी के शरणापन्न रहता है, अन्तर केवल इतना है कि आस्तिक एक के और नास्तिक अनेक के। आस्तिक आवश्यकता की पूर्ति करता है और नास्तिक इच्छाओं की। आवश्यकता एक और इच्छाएँ अनेक होती हैं। आवश्यकता की पूर्ति होने पर पुनः उत्पत्ति नहीं होती, इच्छाओं की पूर्ति होने पर पुनः उत्पत्ति होती है। इच्छाकर्ता बेचारा तो प्रवृत्ति द्वारा केवल शक्तिहीनता ही प्राप्त करता है। अतः 'शरणागत' शरण्य की शरण हो, इच्छाओं की निवृत्ति एवं आवश्यकता की पूर्ति कर कृतकृत्य हो जाता है।

आवश्यकता उसी की होती है, जिसकी सत्ता है, और इच्छा का जन्म प्रमादवश आसक्ति से होता है, इसी कारण उसकी निवृत्ति होती है, पूर्ति नहीं होती। साधारण प्राणी इच्छा और आवश्यकता में भेद नहीं जानते। परन्तु विचारशील जब अपने जीवन का अध्ययन करता है, तब उसे इच्छा और आवश्यकता में भेद स्पष्ट प्रत्यक्ष हो जाता है। यदि आवश्यकता और इच्छा में भेद न होता, तो आस्तिकता उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि इच्छायुक्त प्राणी विषय-सत्ता से भिन्न कुछ नहीं जानता।

शरणागति भाव है, कर्म नहीं—

शरणागत होते ही,सबसे प्रथम अहंता परिवर्तित होती है। 'शरणागति' भाव है, कर्म नहीं। भाव और कर्म में यही भेद है कि भाव वर्तमान में ही फल देता है और कर्म भविष्य में। भावकर्ता भाव स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है, किन्तु कर्म संघटन से होता है।

संघटन अनेक प्रकार के होते हैं, क्योंकि अनेक निर्बलताओं का समूह ही वास्तव में 'संघटन' है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से, अपने से भिन्न की सहायता की खोज करना 'संघटन' है।

भेदभाव और अभेद-भाव—

शरणागति दो प्रकार की होती है–भेदभाव की तथा अभेद-भाव की। भेदभाव की शरणागति शरण्य, अर्थात् प्रेमपात्र की स्वीकृति मात्र से ही हो सकती है,किन्तु अभेद-भाव की शरणा-

गति शरण्य के यथार्थ-ज्ञान से होती है। अभेद भाव का शरणागत, शरणागत होने से पूर्व ही निर्विषय हो जाता है, केवल लेशमात्र अहंता शेष रहती है, जो शरण्य की कृपा से निवृत्त हो जाती है। भेदभाव का शरणागत, शरणागत होते ही अहंता का परिवर्तन कर देता है, अर्थात् जो अनेक का था, वह एक का होकर रहता है।

शरणागत के हृदय में यह भाव, कि मैं उनका हूँ, निरन्तर सद्भावपूर्वक रहता है। यह नियम है कि जो जिसका होता है, उसका सब कुछ उसी का होता है तथा वह निरन्तर उसी के प्यार की प्रतीक्षा करता है। प्रेमपात्र के प्यार की अग्नि ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों शरणागत की अहंता उसी प्रकार तद्रूप होती जाती है, जिस प्रकार लकड़ी अग्नि से अभिन्न होती जाती है। अहंता के समूल नष्ट होने पर भेद-भाव का शरणागत भी अभेद-भाव का शरणागत हो जाता है।

भेदभाव का शरणागत भी शरण्य से किसी भी काल में विभक्त नहीं होता, जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री पिता के घर भी पति से विभक्त नहीं होती। भेद तथा अभेद भाव के शरणागत में अन्तर केवल इतना रहता है कि भेदभाव का शरणागत विरह एवं मिलन दोनों प्रकार के रसों का आस्वादन करता है, और अभेद-भाव का शरणागत अपने में ही शरण्य का अनुभव कर नित्य एक रस का अनुभव करता है। अनुभव का अर्थ उपभोग नहीं है। उपभोग तो संयोग से होता है। उपभोग काल में कर्ता में भोक्ता-भाव शेष रहता है। परन्तु मिलन का रस ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों भोक्ता की सत्ता मिटती जाती है। इसी कारण उपभोग-कर्ता कभी निर्वासना को प्राप्त नहीं होता। परन्तु शरणागत निर्वासना को प्राप्त होता है।

वासनायुक्त प्राणी शरणापन्न नहीं हो सकता। अथवा यों कहो कि शरणागत में वासना शेष नहीं रहती।

यदि कोई यह कहे कि शरण्य की वासना भी वासना है। तो विचार दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि शरणागत की शरण्य आवश्यकता है, वासना नहीं; क्योंकि वासना का जन्म भोगासक्ति एवं प्रमाद से होता है और आवश्यकता भोगासक्ति मिटने पर जागृत होती है। जिस प्रकार सूर्य का उदय एवं अन्धकार की निवृत्ति युगपत् है, उसी प्रकार भोगासक्ति की निवृत्ति और आवश्यकता की जागृति युगपत् है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि शरण्य की आवश्यकता वासना नहीं है। यद्यपि आवश्यकता की सत्ता कुछ नहीं, परन्तु प्रेमास्पद को न जानने की दूरी के कारण प्रेमपात्र ही आवश्यकता के रूप में प्रतीत होता है, जिस प्रकार धन की आवश्यकता ही निर्धनता है। इसी कारण विरही शरणागत भक्त विरह के रस में मुग्ध रहता है।

शरणापन्न जी सार्थकता तब समझनी चाहिए, कि जब शरण्य शरणागत हो जाय, क्योंकि प्रेमी की पूर्णता तभी सिद्ध होती है, जब प्रेमपात्र प्रेमी हो जाता है। प्रेमपात्र के प्रेमी होने पर प्रेमी प्रेमपात्र के माधुर्य से छक जाता है। शरण्य के माधुर्य का रस इतना मधुर है कि शरणागत, शरणागत-भाव का त्याग न करने के लिए विवश हो जाता है। बस, यही भेद-भाव की शरणागति है। जब भेदभाव की शरणागति सिद्ध हो जाती है, तब शरण्य शरणागत को स्वयं बिना उसकी रुचि के उसी प्रकार अपने से अभिन्न कर लेते हैं, जिस प्रकार चोर बिना ही इच्छा के दण्ड पाता है।

वास्तविक जीवन और अभिनय—

शरणागत होने पूर्व प्राणी की अहंता अनेक भागों में विभक्त रहती है। शरणागत होने पर अनेक भाव एक ही भाव में विलीन हो जाते हैं। जब अनेक भाव एक ही भाव में विलीन हो जाते हैं, तब प्राणी को एक जीवन में दो प्रकार के जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। एक तो उसका वास्तविक जीवन होता है, दूसरा उसका अभिनय। शरणागत का वास्तविक जीवन केवल शरण्य का प्यार है। शरणागत का अभिनय धर्मानुसार विश्व-सेवा है, अर्थात् विश्व शरणागत से न्याय-पूर्वक जो आशा रखता है, शरणागत विश्व की प्रसन्नता के लिए वही अभिनय करता है।

यह नियम है कि अभिनय में सद्भाव नहीं होता, क्रिया-भेद होने पर भी प्रीतिभेद नहीं होता। अभिनयकर्ता अपने आपको नहीं भूलता तथा उसको अभिनय में जीवन-बुद्धि नहीं होती। अभिनय के अन्त में उस स्वीकृत भाव का अत्यन्त अभाव हो जाता है। बस, उसी काल में शरणागत सब ओर से विमुख होकर शरण्य की ओर हो जाता है।

अनन्त शक्ति में विलीनता—

प्राकृतिक नियम के अनुसार अनन्त शक्ति निरन्तर प्रत्येक प्राणी को स्वभावतः अपनी ओर आकृष्ट करती रहती है, परन्तु स्वतन्त्रता नहीं छीनती और न शासन करती है। यदि वह स्वतः आकर्षित न करती, तो प्राणी के सीमित प्यार को

निरन्तर छिन्न-भिन्न न करती रहती। यह नियम है कि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, अन्त में उसी में विलीन होती है। अतः अनन्त शक्ति से उद्भूत प्रेम की पवित्र धारा अनन्त शक्ति ही में विलीन होगी। उसे वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों में बाँधने का प्रयत्न व्यर्थ चेष्टा है। शरणागत-भाव होने पर प्रेम की पवित्र धारा शरण्य ही में विलीन होती है।

अपने केन्द्र की शरणापन्नता—

प्राणी की स्वाभाविक प्रगति अपने केन्द्र के शरणापन्न होने की है। अत्र विचार यह करना है कि हमारा केन्द्र क्या है। केन्द्र वही हो सकता हैं कि जिसकी आवश्यकता हो। आवश्यकता नित्य-जीवन, नित्य-रस एवं सब प्रकार से पूर्ण और स्वतन्त्र होने की है। अतः हमारा केन्द्र वही हो सकता है, जो सब प्रकार से पूर्ण एवं स्वतन्त्र हो। हमें उसी के शरणापन्न होना है।

हम सबसे भारी भूल यही करते हैं कि अपने केन्द्र तक पहुँचने के पूर्व, मार्ग में अनेक इच्छाओं की पहाड़ियाँ स्थापित कर, स्वाभाविक प्रगति को रोक देते हैं; यद्यपि अनन्त शक्ति उन पहाड़ियों को उसी प्रकार प्यारपूर्वक छिन्न-भिन्न करने का निरन्तर प्रयत्न करती है, जैसे माँ बालक को सिखाने का प्रयत्न करती है।

हम उस अनन्त शक्ति का विरोध करने का विफल प्रयास करते रहते हैं, यह परम भूल है। महामाता प्रकृति हमको निरन्तर यह पाठ पढ़ा रही है कि सीमित सत्ता अनन्तता के

शरणापन्न होती है; जिस प्रकार नदी समुद्र की ओर और बीज वृक्ष की ओर निरन्तर प्रगतिशील है। कोई भी वस्तु एवं अवस्था ऐसी नहीं है, जो निरन्तर परिवर्तन न कर रही हो, मानो हमें सिखा रही हो कि हमको किसी भी सीमित भाव में आबद्ध नहीं रहना चाहिए, प्रत्युत अपने परम स्वतन्त्र केन्द्र की ओर प्रगतिशील होना चाहिए, जो शरणागत होने पर सुगमता पूर्वक हो सकता है।

यह अखण्ड नियम है कि कोई भी भाव तब तक सजीव नहीं होता, जब तक कि वह विकल्प-रहित न हो जाय। जिस प्रकार बोए हुए बीज को किसान बोकर विकल्परहित हो जाता है, अर्थात् बीज को बार-बार निकाल कर देखता नहीं है और न संदेह करता है, तब बीज पृथ्वी से घुल-मिलकर अपने स्वभावानुसार विकास पाता है। उसी प्रकार शरणागत अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न सत्ता से घुल-मिलकर अपने स्वभावानुसार विकास पाता है और सीमित स्वभाव को मिटाकर उससे अभिन्न भी हो जाता है। किन्तु उसका शरणागतभाव निर्विकल्प होना चाहिए, क्योंकि सद्भाव में विकल्प नहीं होता।

जो प्राणी उस अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न नित्य-तत्व के शरणापन्न नहीं होते, वे बेचारे अनेक वस्तुओं एवं परिस्थितियों के शरणापन्न रहते हैं; जैसे, कामी कामिनी के, लोभी धन के, अविवेकी शरीर के; क्योंकि स्वीकृतिमात्र से उत्पन्न होने वाली अहंता अनेक भावों में विभक्त होती रहती है। वह जब-जब जिस-जिस भाव को स्वीकार करती है, तब-तब उसी के

शरणापन्न होती है। सत्य के शरणापन्न होने वाला प्राणी अपने को स्वीकृति जन्य अहंता से मुक्त कर लेता है।

सीमित अहंभाव का निःशेष—
वास्तविक मानव-जीवन—

शरणागत की अहंता निर्जीव, अर्थात् भुने हुए बीज की भाँति केवल प्रतीति मात्र रहती है, क्योंकि उसमें-से सीमित भाव एवं स्वीकृति-जन्य सत्ता मिट जाती है। जब प्राणी सीमित भाव एवं स्वीकृति को ही अपनी सत्ता मान बैठता है, तब अनेक प्रकार के विघ्न उत्पन्न हो जाते हैं। गहराई से देखिए, यद्यपि प्रत्येक प्राणी में प्यार उपस्थित है, परन्तु स्वीकृति-मात्र को सत्ता मान लेने से प्यार-जैसा अलौकिक-तत्व भी सीमित हो जाता है। सीमित प्यार संहार का काम करता है, जो प्यार के नितान्त विपरीत है। जैसे देश के प्यार ने देशों पर, सम्प्रदाय के प्यार ने अन्य सम्प्रदायों पर, जाति के प्यार ने अन्य जातियों पर अत्याचार किया है, जो मानव-जीवन के सर्वथा विरुद्ध है। आस्तिकतापूर्वक शरणागत होने से स्वीकृति-जन्य सत्ता मिट जाती है। स्वीकृति-जन्य सत्ता के मिटते ही सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता। सीमित अहंभाव के निःशेष होते ही अलौकिक प्यार विभु हो जाता है, जो वास्तव में मानव-जीवन है।

शरणागति से शरणापन्नता, मानव-जीवन से ऋषि-जीवन—

शरणागत में मानव-जीवन स्वभावतः उत्पन्न होता है।

जब शरणागत शरणापन्न हो जाता है, तब ऋषि-जीवन का अनुभव कर, अपने ही में अपने शरण्य को पाता है। शरणागत और शरणापन्न में अन्तर केवल यही है कि शरणागत शरण्य के प्रेम की प्रतीक्षा करता है, और शरणापन्न प्रेम का आस्वादन करता है।

शरणागति अभ्यास नहीं, सद्भाव और सर्वोत्कृष्ट साधन है—

शरणागति अभ्यास नहीं है, प्रत्युत सद्भाव है। शरणागति-भाव का सद्भाव होने पर प्राणी का समस्त जीवन शरणागति-मय हो जाता है, अर्थात् शरणागत केवल मित्र के लिए मित्र, पुत्र के लिए पिता, पिता के लिए पुत्र, गुरु के लिए शिष्य, शिष्य के लिए गुरु, पति के लिए पत्नी, पत्नी के लिए पति, समाज के लिए व्यक्ति और देश के लिए ही देशीय होता है। जो-जो व्यक्ति उससे न्यायानुसार जो-जो आशा करता है, उसके प्रति शरणागत वही अभिनय करता है। अपने लिए वह शरण्य से भिन्न और किसी की आशा नहीं करता, अथवा यों कहो कि शरणागत सबके लिए सब कुछ होते हुए भी, अपने लिए शरण्य से भिन्न किसी अन्य की ओर नहीं देखता। जब शरणागत अपने लिए किसी भी व्यक्ति, समाज आदि की अपेक्षा नहीं करता, तब अभिनय के अन्त में शरणागत के हृदय में शरण्य के विरह की अग्नि अपने-आप प्रज्वलित हो जाती है।

अतः शरणागत सब कुछ करते हुए भी शरण्य से विभक्त नहीं होता। गहराई से देखिए, कोई भी ऐसा अभ्यास नहीं है,

जिससे साधक विभक्त न हो, क्योंकि संघटन से उत्पन्न होने वाला अभ्यास किसी भी प्रकार निरन्तर हो ही नहीं सकता। परन्तु शरणागति से परिवर्तित अहंता निरन्तर एक रस रहती है। अन्तर केवल इतना रहता है कि शरणागत कभी तो शरण्य के नाते विश्व की सेवा करता है, तथा कभी शरण्य के प्रेम की प्रतीक्षा करता है, एवं कभी शरण्य से अभिन्न हो जाता है। वह साधन पूर्ण साधन नहीं हो सकता, जिससे साधक विभक्त हो जाता है, क्योंकि पूर्ण साधन तो वही है, जो साधक को साध्य से विभक्त न होने दे। अतः इस दृष्टि से शरणागति-भाव सर्वोत्कृष्ट साधन है।

शरणागत शरण्य का शरण्य--

विचार दृष्टि से यह भलीभाँति सिद्ध होता है कि अहंता के अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है। पतित-से-पतित अहंता भी शरणागत होते ही परिवर्तित हो जाती है। अहंता परिवर्तित होते ही अहंता में जो दोषयुक्त संस्कार अंकित थे, वे मिट जाते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी के बिना बीज का उपजना असम्भव है, उसी प्रकार दोषयुक्त अहंता के बिना दोषयुक्त संस्कारों का उपजना असम्भव है। अतः यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि पतित-से-पतित प्राणी भी शरणागत होते ही पवित्र हो जाता है। जिस भाँति मिट्टी कुम्हार की शरणागत होकर, कुम्हार की ही योग्यता और बल से कुम्हार के काम आती है और कुम्हार का प्यार पाती है, उसी भाँति शरणागत शरण्य के ही अनन्त ऐश्वर्य एवं माधुर्य से शरण्य के काम आता है एवं उसका प्यार पाता है। यह नियम है कि जो जिसके काम

आता है, वह उसका प्रेमपात्र हो जाता है। अतः इसी नियमानुसार शरणागत शरण्य का शरण्य हो जाता है। भला, इससे अधिक सुगम एवं स्वतन्त्र कौन सा मार्ग है, जो स्वतन्त्रतापूर्वक साधक को शरण्य का शरण्य बना देता है ?

शरणागत में अभिमान निःशेष

शरण्य से अपनत्व--

शरणागत में किसी भी प्रकार का अभिमान शेष नहीं रहता। दीनता का अभिमान भी अभिमान है। शरणागत दीन नहीं होता, क्योंकि उसका शरण्य से पूर्ण अपनत्व होता है। अपनत्व और दासता में भेद है। दासता बंधन का कारण है, और अपनत्व स्वतन्त्रता का कारण है। अपनत्व होने से भिन्नता का भाव मिट जाता है। भिन्नता मिटते ही स्वतन्त्रता अपने-आप आ जाती है। भिन्नता का भाव उत्पन्न होने पर ही प्राणी में किसी-न-किसी प्रकार का अभिमान उत्पन्न होता है। शरणापन्न होने पर अभिमान गल जाता है। अभिमान गलते ही भिन्नता एकता में विलीन हो जाती है। एकता होने पर भय शेष नहीं रहता। अतः शरणागत सब प्रकार से अभय हो जाता है।

भिन्नता का नितान्त अन्त--

भिन्नता 'द्वेष', और एकता 'प्रेम' है। ऐसा कोई दोष नहीं है, जो भिन्नता से उत्पन्न न हो। ऐसा कोई गुण नहीं है, जो एकता से उत्पन्न न हो। अर्थात् सभी दोषों का कारण भिन्नता

एवं सद्गुणों का कारण एकता है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्य प्रवृत्ति भी सीमित अहंता के बिना नहीं हो सकती, परन्तु शरणापन्न होते ही प्रवृत्ति की आवश्यकता शेष नहीं रहती; अतः प्रवृत्ति निःशेष हो जाती है। प्रवृत्ति का अभाव होते ही सीमित अहंता उसी प्रकार गल जाती है, जिस प्रकार सूर्य की उष्णता से बर्फ गल जाती है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि शरणागत होने के अतिरिक्त कोई भी ऐसा उपाय नहीं है, जिससे भिन्नता का नितांत अन्त हो जाय।

अधिकारी और अधिकार—

शरणागत होने का वही अधिकारी है, जो वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर, अपने लिए नित्य-जीवन एवं नित्य-रस की आवश्यकता का अनुभव करता है। जो प्राणी प्रतिकूल परिस्थिति के साथ-साथ अपना भी मूल्य घटाता जाता है तथा अनुकूल परिस्थिति की आसक्ति में फँसता जाता है; एवं जो परिस्थिति से हार स्वीकार करता है तथा लक्ष्य से निराश हो जाता है, वह न तो आस्तिक हो सकता है और न शरणागत।

स्वीकृतिमात्र को ही अपने को आप समझ लेना, तात्त्विक-दृष्टि से अपना मूल्य घटाना है। प्रेमपात्र में अपूर्णता का भास, अथवा अपने स्वीकृत भाव में विकल्प का होना, आस्तिक-दृष्टि से अपना मूल्य घटाना है। स्वीकृति के अनुरूप प्रवृत्ति का न होना, अथवा किसी भी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति की ओर आकृष्ट होना, अथवा ऐसी प्रवृत्ति करना, जो किसी की पूर्ति का साधन न हो, व्यावहारिक-दृष्टि से अपना मूल्य घटाना है।

यद्यपि शरण निर्बल का बल है, परन्तु जो प्राणी हार स्वीकार कर लेता है, उसके लिये शरण असम्भव हो जाती है। निर्बल के बल का अर्थ केवल इतना ही है कि शरणागत बिना किसी अन्य की सहायता के, स्वयं केवल शरणागति-भाव से ही सफलता प्राप्त करता है। भाव करने में प्रत्येक प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। जब शरणागत होने पर अहंता परिवर्तित हो जाती है, तब शरणागत का मूल्य संसार से बढ़ जाता है, अर्थात् वह अपनी प्रसन्नता के लिए संघटन की ओर नहीं देखता। बस, उसी काल में शरणागत के जीवन में निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि सद्गुण स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं। शरणागत किसी भी गुण को निमंत्रण देकर बुलाता नहीं है, और न सीखने का ही प्रयत्न करता है। अतः इस दृष्टि से अनेक विभागों में विभाजित अहंता को, 'मैं उनका हूँ,' इस भाव में विलीन करना परम अनिवार्य है, जो शरणागति-भाव से सुगमतापूर्वक अपने-आप हो जाता है।

अब विचार केवल यह करना है कि शरणागत होने का अधिकार कब प्राप्त होता है! जब प्राणी अपनी सीमित शक्तियों का जो अनन्त से प्राप्त हैं, सदुपयोग कर लेता है, और अपने लक्ष्य से निराश नहीं होता, ऐसी दशा में शरणागत होने का भाव स्वतः उत्पन्न होता है। जिस प्रकार बालक जब अपनी इच्छित वस्तु को अपने बल से नहीं पा सकता, तब विकल हो, माँ की ओर देखकर रोने लगता है, बस उसी काल में माँ अपने ऐश्वर्य एवं माधुर्य से बच्चे की इच्छित वस्तु प्रदान करती है; उसी प्रकार हमें यही करना है कि बालक की भाँति अपनी सारी प्राप्त शक्ति का पवित्रतापूर्वक ईमानदारी से

सदुपयोग करें और लक्ष्य से निराश न हों, प्रत्युत अपनी अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न नित्य-सत्ता के शरणापन्न हो जाएँ। ऐसा करते ही प्राणी अपने उस स्वभावानुसार कि जिसे मिटाने में वह असमर्थ है, विधान के अनुरूप विकास पा जाएगा।

यह अखण्ड सत्य है कि जब तक हम अपने-आपको सीमित विकास से संतुष्ट करने का प्रयत्न करते रहेंगे, तब तक असीम शक्ति उस विकास का यथार्थ-ज्ञान कराने के लिए उसका ह्रास करती रहेगी, क्योंकि वह हमारी अपने से किसी भी प्रकार भी भिन्नता सहन नहीं कर सकती। हमको उस असीम सत्ता का असीम प्यार देखना चाहिए, जो हमारे बिना किसी प्रकार नहीं रह सकती। यह कैसा वैचित्र्य है कि जो विषय-सत्ता हमारा निरन्तर तिरस्कार कर रही है, हम प्रमादवश उसी की ओर दौड़ते रहते हैं और जो असीम-सत्ता निरन्तर प्रेम-पूर्वक हमें अपनाने का प्रयत्न करती है, हम उससे विमुख रहते हैं! विचारशील प्राणी को इस प्रमाद-युक्त प्रगति का नितान्त अन्त कर देना चाहिए, जो शरणागति-भाव से स्वतन्त्रतापूर्वक हो सकता है।

उपसंहार--

अपनी न्यूनता का अनुभव करना तथा उसे मिटाने का प्रयत्न करना, 'मानवता' है। जो अपनी न्यूनता का अनुभव नहीं करता, वह मानव नहीं, और जो अनुभव कर उसे मिटाने का प्रयत्न नहीं करता, वह भी मानव नहीं, एवं जिसमें किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं है, वह भी मानव नहीं। अर्थात् न्यूनता

होते हुए चैन से न रहना ही मानवता है। इसी कारण मानवता में उपार्जन के अतिरिक्त उपभोग के लिए कोई भी स्थान नहीं है। उपार्जन ही मानव-जीवन का सदुपयोग है। उस मानव-जीवन की सार्थकता के लिए शरण्य के शरणापन्न होना परम अनिवार्य है। क्योंकि ऐसा कोई दुःख नहीं है, जो शरणागत होने से न मिट जाय, अर्थात् स्वभावानुसार विकास तथा नित्य-जीवन शरण्य के शरणागत होते ही सुलभ हो जाता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि 'शरण' सफलता की कुंजी है।

परिस्थिति का सदुपयोग

परिवर्तनशील सीमित सौन्दर्य में सन्तुष्ट होने का स्वभाव 'काम' उत्पन्न करता है। काम के उत्पन्न होते ही प्राणी अपने को किसी-न-किसी सीमित स्वीकृति में आबद्ध कर लेता है। सीमित स्वीकृति में आबद्ध होते ही, स्वीकृति के अनुरूप अनेक संकल्प होने लगते हैं। संकल्प उत्पन्न होते ही, इन्द्रिय आदि की प्रवृत्ति होने लगती है। यद्यपि इन्द्रियों की प्रवृत्ति के अन्त में शक्तिहीनता से भिन्न कुछ नहीं मिलता, परन्तु प्रवृत्ति की प्रतीति एवं प्रवृत्ति-जन्य रस की अनुभूति की प्रतीति अवश्य होता है। बस, उसी प्रतीति का नाम परिस्थिति है।

वर्तमान परिवर्तनशील जीवन नित्य-जीवन का साधन है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्राणी उन्नति के लिए सर्वदा स्वतन्त्र है। विधाता का विधान (Natural Law) न्यायपूर्ण है। प्रत्येक परिस्थिति किसी अन्य परिस्थिति की अपेक्षा श्रेष्ठ तथा अश्रेष्ठ देखने में आती है। वास्तव में तो सभी परिस्थितियाँ स्वरूप से अपूर्ण हैं। यह नियम है कि अपूर्णता प्राणी को स्वभाव से ही अप्रिय है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि परिस्थिति प्राणी का जीवन नहीं है, प्रत्युत वास्तविक नित्य-जीवन का साधनमात्र है। साधन में साध्य-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद है। साधन का तिरस्कार करना, उसको अपने पतन का कारण मान लेना, अथवा उससे हार स्वीकार करना, साधक की असावधानी और भूल ही है।

प्राकृतिक विधान प्रेम तथा न्याय का भंडार है। अतः वह दंड नहीं देता, परन्तु उसके सिखाने के अनेक ढंग हैं। साधारण प्राणी परिस्थिति-मात्र में जीवन-बुद्धि स्थापित कर, प्राकृतिक विधान को दंड मान लेते हैं। प्रत्येक परिस्थिति का अर्थ सुख तथा दुःख है। प्रत्येक प्राणी सुख तथा दुःख के बन्धन में ही अपने को बाँध लेता है। किन्तु स्वाभाविक रुचि आनन्द की होती है। आनन्द तथा आनन्द के अभिलाषो प्राणी के बीच में सुख तथा दुःख का ही पर्दा है। सुख-दुःख का सदुपयोग करने पर सुख-दुःख नहीं रहता। अतः इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि परिस्थिति अर्थात् सुख-दुःख न तो प्राणी का जीवन है और न पतन का कारण है।

सुख-दुःख का दुरुपयोग ही पतन का कारण है, जो प्राणी की अपनी बनाई हुई वस्तु है। जब हम अपने को अपने दोष का कारण नहीं मानते, तब हमको अपनी दृष्टि से अपने दोष नहीं दिखाई देते। ऐसी अवस्था में हम उन्नति से निराश होने लगते हैं। हम समझने लगते हैं कि हमको तो पतन के लिए ही उत्पन्न किया गया है। हमारी परिस्थिति प्रतिकूल है, हम उन्नति में असमर्थ हैं। प्यारे ! गम्भीरतापूर्वक देखिए, प्रत्येक परिस्थिति विश्व का अंगमात्र है। कोई भी अंगी अपने अंग का पतन नहीं करता, प्रत्युत सुधार करता है; जिस प्रकार माँ शिशु के हित के लिए शिशु के दूषित अङ्ग को चिरवा देती है। माँ के हृदय में शिशु के प्रति अगाध प्यार है, किन्तु शिशु वर्तमान पीड़ा को देख कर, माँ का अन्याय देखने लगता है। बस, इसी प्रकार हम सुख का वियोग तथा दुःख का संयोग होने पर प्राकृतिक विधान को अन्यायपूर्ण तथा कठोर समझने लगते हैं। यह हमारी शिशु के समान बाल-बुद्धि का प्रभाव है, और कुछ नहीं।

प्राकृतिक विधान को न्यायपूर्ण स्वीकार करते ही, प्राणी वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने लगता है। ज्यों-ज्यों सदुपयोग की भावना दृढ़ हो जाती है, त्यों-त्यों प्रतिकूलता अनुकूलता में स्वतः परिवर्तित होती जाती है। जिस प्रकार कटु औषधि का सेवन करने पर, ज्यों-ज्यों रोग निवृत्त होता जाता है, त्यों-त्यों रोगी को औषधि के प्रति प्रियता उत्पन्न होती जाती है, अर्थात् कटु औषधि मधुर से भी अधिक मधुर प्रतीत होने लगती है। इसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थिति के सदुपयोग करने पर प्रतिकूलता अनुकूलता से भी अधिक अनुकूल मालूम होने लगती है। इस दृष्टि से केवल परिस्थिति का दुरुपयोग करना ही प्रतिकूलता है। परिस्थिति वास्तव में प्रतिकूल नहीं होती। इसका अर्थ यह नहीं है कि परिस्थिति जीवन है, अथवा परिस्थिति को ही सुरक्षित रखना है, अथवा उससे ऊपर नहीं उठना है। प्यारे! परिस्थिति जल-प्रवाह के समान बिना ही प्रयत्न निरन्तर परिवर्तित हो रही है। हमें तो उसका सदुपयोग कर उससे अतीत अपने प्रेमपात्र की ओर जाना है।

इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति हमारे मार्ग का स्थान है अथवा खेलने का मैदान है। कोई भी विचारशील खेलने के मैदान में तथा मार्ग के स्थान में सर्वदा रहने का प्रयत्न नहीं करता, क्योंकि खेलना मन में छिपी हुई आसक्ति का यथार्थ ज्ञान कराने का साधन है और मार्ग प्रेमपात्र तक पहुँचने का साधन है।

प्रत्येक परिस्थिति की उत्पत्ति कर्म से होती है और कर्म कर्ता के अनुरूप होता है, अर्थात् कर्ता स्वयं कर्म के स्वरूप

में परिवर्तित हो जाता है; परन्तु साधारण दृष्टि से कर्ता और कर्म में भेद प्रतीत होता है। वास्तव में तो कर्ता का विकसित स्वरूप ही कर्म है। जिस प्रकार सूर्य का विकसित स्वरूप किरण तथा धूप आदि हैं, उसी प्रकार क्रिया और फल प्रवृत्ति-कर्ता के विकसित स्वरूप हैं।

कर्म का प्रत्येक साधन कर्ता के पश्चात् उत्पन्न होता है, अर्थात् कर्म से कर्ता की उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत कर्ता से कर्म की उत्पत्ति होती है। यद्यपि कर्म कर्ता से उत्पन्न हो, उसकी असावधानी के कारण कभी-कभी उसी पर ही शासन करने लगता है। परन्तु यह अवश्य है कि कर्ता से कर्म की उत्पत्ति होने पर भी कर्ता कर्म से अतीत ही रहता है। कर्म कर्ता के विना नहीं रह सकता, किन्तु कर्ता कर्म के विना भी रह सकता है। जिस प्रकार नेत्र के विना देखने की क्रिया नहीं हो सकती, देखने की क्रिया नेत्र के आश्रित रहती है; किन्तु नेत्र स्वतन्त्र हैं न देखने के लिए भी, क्योंकि देखने की क्रिया न होने पर भी नेत्र अपने को नेत्र के स्वरूप में जीवित रखता है, अर्थात् देखने, न देखने में नेत्र अपने को स्वतन्त्र पाता है। इसी प्रकार कर्ता अपने को करने, तथा न करने में स्वतन्त्र पाता है। मूल रूप से कर्ता सफेद वस्त्र के समान है, किन्तु जिस रंग में उसको रंग दिया जाता है, उसी रंग को वह प्रकाशित करने लगता है। रंग के स्वीकार करने में कर्ता स्वतन्त्र है।

'विश्व' कर्ता के सामने अनेक प्रकार की स्वीकृतियों के रंग भेंट करता है, किन्तु कर्ता अपनी रुचि तथा विश्वास के अनुसार विश्व की दी हुई भेंट को स्वीकार करता है। साधा-

रण दृष्टि से तो स्वीकृति ही कर्ता की सत्ता प्रतीत होती है, किन्तु स्वीकृति को परिवर्तित कर लेने पर, वह निर्जीव यन्त्र के समान जान पड़ती है और कर्ता उससे अतीत प्रतीत होता है। अत: कर्ता जिस प्रकार की स्वीकृति स्वीकार कर लेता है, उसी प्रकार की प्रवृत्ति में प्रवृत्त हो जाता है।

कर्ता शरीर-भाव के सम्बन्ध से अपने में भोग-वासनाओं को पाता है, किन्तु फिर भी उसमें नित्य-जीवन तथा नित्य-रस की आवश्यकता विद्यमान रहती है। भोग-वासनाएँ नित्य-जीवन तथा नित्य-रस की आवश्यकता को ढक लेती हैं, मिटा नहीं पातीं। वियोग के भय से तथा कमी के अनुभव एवं दु:ख से जब कर्ता को भोग-प्रवृत्ति की अपूर्णता का बोध होता है, तब स्वाभाविक आवश्यकता जागृत होने लगती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सभी परिस्थितियाँ असमर्थ हैं, किन्तु वे साधनमात्र अवश्य हैं। परिस्थिति बेचारी यन्त्रवत् है, उसका सदुपयोग करने पर प्रत्येक परिस्थिति सहायक मित्र है। विचारशील को न तो परिस्थिति की दासता स्वीकार करनी चाहिए और न उससे शत्रुता। दासता नित्य-जीवन की आवश्यकता नहीं जागृत होने देती और शत्रुता सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होने देती, इस कारण विचारशील को केवल परिस्थिति का सदुपयोग ही करना है। यह अखंड सत्य है कि परिस्थिति का सदुपयोग करने पर परिस्थिति स्वयं मिट जाती है।

परिस्थिति का सदुपयोग करने के लिए कर्ता को कार्य-कुशलता, भाव की पवित्रता एवं लक्ष्य पर दृष्टि रखना परम अनिवार्य है। कार्य-कुशलता के लिए ईमानदारी, योग्यता एवं

परिश्रमी होना आवश्यक है। ईमानदारी आने पर उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त हो जाता है, जिनसे कर्ता तथा अन्य प्राणियों का अहित होता है, अर्थात् अहितकारी चेष्टाएँ मिट जाती हैं। अहितकारी चेष्टाओं की उत्पत्ति तब होती है, जब हम अपने ज्ञान के अनुरूप चेष्टा नहीं करते, अर्थात् अपनी अनुभूति का निरादर करते हैं। भाव की पवित्रता का अर्थ केवल इतना ही है कि कर्ता में किसी के अहित का भाव न हो, प्रत्युत सर्वहित-कारी भाव हो। लक्ष्य पर दृष्टि रखने का अर्थ केवल इतना ही है कि कर्ता को अपनी स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति एवं भोग-वासनाओं की निवृत्ति पर दृष्टि रखनी चाहिए।

प्रत्येक कर्ता में क्रियाशक्ति, राग तथा संस्कृति-जन्य स्वीकृति विद्यमान है। केवल क्रियाशक्ति यन्त्र के समान है। वह स्वरूप से उन्नति तथा अवनति का हेतु नहीं है। जब प्राणी क्रियाशक्ति का उपयोग राग की पूर्ति अर्थात् भोग के लिए करता है, तब उन्नति रुक जाती है और जब वह राग के यथार्थ ज्ञान के लिए संस्कृति-जन्य स्वीकृति के अनुरूप क्रियाशक्ति का उपयोग करता है, तब उसकी स्वतः उन्नति होने लगती है। स्वीकृति के अनुरूप प्रवृत्ति करने पर केवल क्रिया-जन्य रस ही नहीं आता, प्रत्युत भाव-जन्य रस भी आता है, परन्तु इन्द्रिय-जन्य स्वभाव के अनुरूप प्रवृत्ति करने पर केवल क्रिया-जन्य रस आता है, जो मानवता के विरुद्ध है।

स्वीकृति का सद्भाव क्रिया-जन्य रस को भाव-जन्य रस में विलीन कर देता है। भाव-जन्य रस ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों स्वार्थ-भाव अर्थात् भोग की वासना या इन्द्रिय-जन्य

स्वभाव की आसक्ति स्वतः गलती जाती है। ज्यों-ज्यों भोग की वासना गलती जाती है, त्यों-त्यों सेवा का भाव स्वतः उत्पन्न होता जाता है। सेवा-भाव आ जाने पर संस्कारों की दासता मिट जाती है, अर्थात् सेवक की अहंता में-से यह भाव समूल नष्ट हो जाता है कि 'संसार मेरे काम आ जाय;' प्रत्युत यह भाव कि 'मैं संसार के काम आऊँ', सतत जागृत रहता है। ज्यों-ज्यों संसार के काम न आने का दुःख बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों प्राकृतिक विधान (Natural Law) के अनुसार आवश्यक शक्ति का विकास सेवक के जीवन में स्वतः होता जाता है, किन्तु सेवक उस शक्ति का स्वयं भोग नहीं करता, प्रत्युत उसको बाँट देता है। इतना ही नहीं, वह अपने को बाँटने के रस में भी आबद्ध नहीं होने देता। जब सेवक किसी प्रकार का वह रस, जो किसी के संयोग या प्रवृत्ति से उत्पन्न होता है, नहीं लेता, तब उसमें नित्य-रस स्वयं आ जाता है। नित्यरस आते ही सेवक में सेवक-भाव शेष नहीं रहता, किन्तु जिस प्रकार सूर्य से प्रकाश स्वतः फैलता है, उसी प्रकार सेवक-भाव न रहने पर भी सेवा स्वतः होती रहती है।

यह नियम है कि प्रत्येक संकल्प-जन्य प्रवृत्ति का अन्त कर्ता की स्वीकृति के अनुरूप होता है। यदि कर्ता की स्वीकृति पवित्र है, तो अपवित्र संकल्प उत्पन्न ही नहीं होते। अतः इस दृष्टि से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि पवित्र प्रवृत्ति के लिए कर्ता को अपने में पवित्रता स्थापित करना परम अनिवार्य है, अर्थात् कर्ता पवित्र होकर ही पवित्र प्रवृत्ति कर सकता है। पवित्रता तथा अपवित्रता भाव हैं, स्वरूप नहीं; क्योंकि स्वरूप का परिवर्तन नहीं होता। पवित्रता तथा अपवित्रता का परिवर्तन

होता है। परन्तु पवित्रता औषधि और अपवित्रता रोग है। अतः पवित्रता अपवित्रता की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है। परिवर्तन उसी का होता है, जिसकी कर्ता ने अस्वाभाविक (Artificial) स्वीकृति स्वीकार कर ली है। इसका अर्थ यही है कि अपवित्रता के समान पवित्रता भी अस्वाभाविक है। पवित्रता में अस्वाभाविकता केवल इतनी ही है कि पवित्रता की स्वीकृति पवित्रता आने से पूर्व पवित्रता स्थापित करने के लिए की जाती है। वास्तव में तो पवित्रता की स्वीकृति राग के आधार पर होती है, क्योंकि प्राणी को प्रथम अपवित्रता का ज्ञान होता है। जिस ज्ञान से अपवित्रता का ज्ञान होता है, उसी से पवित्रता की स्वीकृति होती है। इस दृष्टि से पवित्रता की उत्पत्ति ज्ञान से हुई, किन्तु अपवित्रता की उत्पत्ति ज्ञान-शून्य अन्ध-विश्वास एवं इन्द्रिय-जन्य स्वभाव की आसक्ति के आधार पर होती है।

कर्ता स्वरूप से तो केवल समष्टि (Universal) क्रिया-शक्ति है, किन्तु उसमें व्यक्ति-भाव केवल स्वीकृति के आधार पर ही उत्पन्न होता हैं। उनमें से मूल स्वीकृतियाँ केवल तीन प्रकार की होती हैं—(१) विषय (२) जिज्ञासा तथा (३) भक्ति। विषयी होने का वही अधिकारी है, जो प्राप्त भोगों को भोगता हुआ अप्राप्त उत्कृष्ट भोगों के लिए घोर प्रयत्न करता है। भक्त होने का वही अधिकारी है, जो सब प्रकार से भगवान् का होने में समर्थ है तथा जिसके हृदय में भगवान् के प्रति विकल्प-रहित विश्वास है। जिज्ञासु होने का वही अधिकारी है, जो प्राप्त भोगों को भोगता नहीं, अप्राप्त भोगों की इच्छा नहीं करता एवं दोष को दोष जान लेने पर उसे त्यागने में समर्थ

है; इतना ही नहीं, प्रत्युत जिसको निर्दोषता के अतिरिक्त किसी से लेशपात्र भी प्रीति नहीं है।

भक्त तथा जिज्ञासु वर्ण-आश्रम में होते हुए भी वास्तव में वर्ण-आश्रम से प्रतीत ही होते हैं, क्योंकि निर्दोष-तत्त्व तथा भगवान् सभी के हैं। उनकी आवश्यकता सर्वकाल में सभी को होती है। जिसकी आवश्यकता सर्वकाल में है, उसकी प्राप्ति का साधन भी सर्वकाल में होना चाहिए। अतः भक्त परिस्थिति का सदुपयोग करने पर अपने अभीष्ट को प्राप्त होते हैं. यह निर्विवाद सत्य है।

प्रेमी तथा जिज्ञासु किसी भी काल में अपने लक्ष्य से विभक्त नहीं होते, किन्तु उनके तथा उनके लक्ष्य के बीच में परिस्थिति-रूप हल्का-सा पर्दा रहता है। उस पर्दे से प्रीति जागृत होती है, क्योंकि प्रीति को जागृत करने के लिए किसी से किसी प्रकार का वियोग भी अनिवार्य है। अतः भक्त के लिए 'परिस्थिति' प्रेमपात्र की प्रीति जागृत करने का, और जिज्ञासु के लिए जिज्ञासा प्रबल करने का साधन हो जाती है; क्योंकि परिस्थिति का दोष निर्दोषता की आवश्यकता जागृत करने में समर्थ है।

यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति स्वरूप से अपूर्ण तथा सदोष होती है, किन्तु जिज्ञासु के लिए वह मार्ग के कंटक के समान और भक्त के लिए प्रेमपात्र के पत्र अर्थात् सन्देश के समान होती है। अन्तर केवल इतना होता है कि जिज्ञासु दोषयुक्त परिस्थिति को अनुभूति के आधार पर वीरता और गम्भीरता-

पूर्वक त्याग कर निर्दोष-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है, तथा भक्त परिस्थिति को प्रेमपात्र का संदेश समझ, प्रीति जागृत कर, प्रेमपात्र की कृपा से अभिन्न हो जाता है। इसमें अन्तर इतना ही है कि जिज्ञासु को तो परिस्थिति का त्याग करना पड़ता है किन्तु भक्त का परिस्थिति त्याग करती है; क्योंकि भक्त में प्रेमपात्र की प्रीति के अतिरिक्त कुछ भी करने की शक्ति नहीं रहती। जिज्ञासु पर्दा हटाकर अपने प्रेमपात्र अर्थात् निर्दोष-तत्व पर अपने को न्योछावर करता है। भक्त में स्वयं पर्दा हटाने की शक्ति नहीं होती। अत: भगवान् विवश होकर स्वयं पर्दा हटा कर अपने को भक्त पर न्योछावर करते हैं।

सभी परिस्थितियों का बाह्य-स्वरूप वस्तु और अवस्था के रूप में होता है, किन्तु परिस्थिति फल-स्वरूप से सुख तथा दु:ख के रूप में सामने आती है। विषयी प्राणी परिस्थिति का भोग करता है। भक्त तथा जिज्ञासु परिस्थिति को साधन मानते हैं, साध्य नहीं। अर्थात् विषयी का जो साध्य है, भक्त तथा जिज्ञासु का वही साधन है। यद्यपि साधक को साधन में अत्यन्त प्रियता होती है, परन्तु साध्य की अपेक्षा साधन साधक की दृष्टि में अधिक महत्ता नहीं रखता। इतना ही नहीं, साध्य के आते ही साधक साधन-सहित अपने को साध्य के प्रति समर्पण कर देता है। विषयी प्राणी सुख-रूप परिस्थिति का भोग कर, परिस्थिति का दास हो जाता है और दु:ख-रूप परिस्थिति से भयभीत हो, अधीर हो जाता है। परन्तु भक्त तथा जिज्ञासु सुख-रूप परिस्थिति का भोग नहीं करते, प्रत्युत सुख को दुखियों की वस्तु समझ कर, दुखियों को बाँट देते हैं और दुख:रूप परिस्थिति से त्याग का पाठ पढ़ कर, अपने को

दु:ख के भय से बचा लेते हैं। इस कारण परिस्थिति भक्त तथा जिज्ञासु की दास हो जाती है। अत: भक्त तथा जिज्ञासु पर परिस्थिति का शासन नहीं होता, और न भक्त तथा जिज्ञासु परिस्थिति पर शासन करते हैं, प्रत्युत प्यार करते हैं।

प्रत्येक प्राणी को विधान के अनुरूप उन्नति की ओर जाना है। अत: अनुकूल तथा प्रतिकूल अर्थात् सुखमय तथा दु:खमय प्रत्येक परिस्थिति में उन्नति के लिए स्थान है; किन्तु परिस्थिति के द्वारा मिले हुए ज्ञान के अनुरूप जीवन न होने के कारण अवनति होती है। विषयी प्राणी भी तभी उन्नति करता है, जब वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर, उससे उत्कृष्ट परिस्थिति की इच्छा करता है। अर्थात् विषयी प्राणी को भी वर्तमान परिस्थिति में त्याग को अपनाना ही पड़ता है। किन्तु उस त्याग का जन्म किसी प्रकार के राग से होता है; इस कारण विषयी का त्याग परिस्थिति के स्वरूप में ही पुन: सामने आ जाता है।

जिस प्रकार ३/४ को, यदि ७५/१०० कर दिया जाय, तो साधारण दृष्टि से तो अंकों में वृद्धि प्रतीत होती है, किन्तु मूल्य उतना ही रहता है,उसी प्रकार बेचारे विषयी की पीड़ा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट परिस्थिति आने पर भी बनी ही रहती है। इस दृष्टि से यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि सभी परिस्थितियाँ यंत्रवत् साधन तो हो सकती हैं, किन्तु प्राणी का जीवन नहीं हो सकतीं। जो प्राणी परिस्थिति को यंत्र न मानकर जीवन मान लेते हैं, वे बेचारे परिस्थिति का अभिमान धारण कर,

अपने हृदय को दीनता तथा अभिमान की अग्नि में दग्ध करते रहते हैं; इसी कारण परिस्थिति के सदुपयोग की अपेक्षा परिस्थिति के परिवर्तन का प्रयत्न करते रहते हैं। विधान के अनुरूप मिली हुई परिस्थिति का सदुपयोग, परिस्थिति-परिवर्तन करने और परिस्थिति से अतीत आस्तिकता प्राप्त कराने में समर्थ है, क्योंकि जो 'है' वह सभी को सभी काल में मिल सकता है। उसके लिए किसी परिस्थिति विशेष की दासता की आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर, परिस्थिति के अभिमान से मुक्त होना है। परिस्थिति के अभिमान से मुक्त होते ही, साधक अपने को सभी परिस्थितियों से अतीत पाता है, और फिर अपने को सभी परिस्थितियों में तथा सभी परिस्थितियों को अपने में देखता है। यही प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता है। अतः उससे कभी निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि आवश्यकता वही होती है, जिसकी पूर्ति परम अनिवार्य है।

साधारण प्राणी, वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, संस्था, जाति, देश, समाज अदि स्वीकृतियों को जीवन मान लेते हैं। वास्तव में वे सब परिस्थितियाँ हैं। अपने-अपने स्थान पर सभी अनुकूल हैं। अतः प्रत्येक प्राणी को अपने-अपने स्थान पर सुन्दर अभिनय का पात्र होना चाहिए, किन्तु उसमें जीवन-बुद्धि लेशमात्र भी न हो, क्योंकि कोई भी अभिनयकर्ता (Actor) अभिनय (Acting) को जीवन नहीं जानता। अभिनय तो केवल छिपे हुए राग की निवृत्ति के लिये साधनमात्र है, अर्थात् यों कहो कि राग-निवृत्ति की औषधि है। अभिनयकर्त्ता अभिनय-परिवर्तन की इच्छा या रुचि नहीं करता, प्रत्युत मिले हुए पार्ट को भली

प्रकार कर, अपने अभीष्ट को पाता है। अभिनय में महत्ता पार्ट को नहीं होती, उसको सुन्दरतापूर्वक यथेष्ट करने की होती है। इस दृष्टि से भी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं।

परिस्थिति का सदुपयोग करने वाला प्रतिकूल परिस्थिति के परिवर्तन के लिए विशेष प्रयत्न नहीं करता, प्रत्युत अपने ही परिवर्तन का प्रयत्न करता है। यह नियम है कि अपना परिवर्तन करने से कालान्तर है परिस्थिति भी स्वतः बदल जाता है। अपना परिवर्तन बिना किए. परिस्थिति किसी भी प्रकार अनुकूल नही होती। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रतिकूल परिस्थिति आने पर अपने परिवर्तन का यथोचित प्रयत्न करना चाहिए।

जो प्राणी परिस्थिति के अतिरिक्त परिस्थिति से अतीत किसी अस्ति-तत्त्व को स्वीकृति नहीं करते, प्रत्युत यही भाव रखते हैं कि हमको तो सुन्दर-सुन्दर अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता है, उनके लिए भी परिस्थिति का सदुपयोग करना अनिवार्य है, क्योंकि प्राकृतिक विधान (Natural Law) प्रत्येक प्राणी की रुचि की पूर्ति में समर्थ है। अतः वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने से ही कर्ता को रुचि के अनुरूप उत्कृष्ट परिस्थिति प्राप्त होती है। यह निर्विवाद सत्य है कि किसी भी वस्तु की उत्पत्ति किसी उत्पत्ति-विनाश-रहित आधार के बिना नहीं हो सकती। अतः परिस्थिति से अतीत अस्ति-तत्त्व अवश्य है।

प्राकृतिक विधान किसी भी परिस्थिति में आबद्ध नहीं रहने देता, प्रत्युत योग्यता के अनुसार त्याग का ही पाठ पढ़ाता

है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वतः विकास पा कर, मिट जाती है। इससे यह भली प्रकार ज्ञात होता है कि प्रत्येक परिस्थिति के त्याग से, अथवा उसके दिये हुए ऐश्वर्य से विश्व की सेवा करके, परिस्थिति से अतीत प्रेमपात्र की ओर जाना अनिवार्य है। यही परिस्थिति का वास्तविक सदुपयोग है। विचारशील का विचार योगी का योग, प्रेमी का प्रेम जिस परम तत्व में विलीन होता है, उसी में परिस्थिति का सदुपयोग करने वाला भी विलीन होता है, क्योंकि सच्चाई में कल्पना-भेद भले ही हो, किन्तु सत्ताभेद नहीं होता। अतः वर्तमान परिवर्तनशील परिस्थिति का सदुपयोग उन्नति का सुगम साधन है।

× × ×

सेवा का स्वरूप और महत्व

जिस प्रकार 'व्यापारी' व्यापार तथा धन है, उसी प्रकार 'सेवक' सेवा तथा सेव्य है। जिस प्रकार प्रकाश सूर्य का और गन्ध पुष्प का स्वभाव है, उसी प्रकार सेवा सेवक का स्वभाव है। सेवा की नहीं जाती, होने लगती है। सेवा उसी में उत्पन्न होती है, जो अपनी प्रसन्नता के लिए वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों की खोज नहीं करता। वस्तु, अवस्था आदि की दासता सेवक नहीं होने देती। सेवक के अतिरिक्त संसार का प्यार और किसी को नहीं मिलता। कर्मवादी संसार को प्यार करता है, और सेवक को संसार प्यार करता है।

कर्मवादी जिस संसार के प्यार को किसी भी प्रकार नहीं पाता,सेवक उसको बिना ही मूल्य पा लेता है; जिस प्रकार बगीचे के फल खरीदने वाला व्यक्ति छाया तथा वायु को बिना मूल्य ही पा लेता है। सेवक को संसार की ओर से आने वाले प्यार के लिए लेशमात्र भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वह स्वतः आता है और आने पर भी बेचारा सेवक को बाँध नहीं पाता, क्योंकि सेवक की वृत्ति बिना ही प्रयत्न, निरन्तर सततरूप से जल-प्रवाह के समान सेव्य की ओर बहती रहती है। सेवक के स्वभाव में पवित्रता निवास करती है, अर्थात् उसमें स्वार्थभाव का नितान्त अन्त हो जाता है। सेवक के व्यवहार में कार्य-कुशलता होती है, क्योंकि उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति समान अर्थ

रखती है। अर्थात् उसमें क्रिया-भेद होने पर भी, प्रीति-भेद नहीं होता, और न लक्ष्य-भेद होता है। सेवक के सामने प्रत्येक परिस्थिति अभिनय के स्वरूप में आती है और सेव्य को देकर चली जाती है। सेवक पर किसी भी परिस्थिति का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं होता। सेवक के अन्तःकरण से क्रिया-जन्य रस की आसक्ति स्वतः निवृत्त हो जाती है। जिस निवृत्ति को योगी योग से और विचारशील विचार से प्राप्त करता है, सेवक उसी को वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग से प्राप्त कर लेता है। अर्थात् सेवक को संसार से संघर्ष नहीं करना पड़ता, क्योंकि सेवक की दृष्टि में प्राकृतिक विधान के अनुसार अपने-आप आई हुई प्रत्येक परिस्थिति समान अर्थ रखती है।

विषयी बेचारा जिस यश और कीर्ति के पीछे दौड़ता है, वह यश और कीर्ति सेवक के पीछे दौड़ती है, किन्तु उसको पकड़ नहीं पाती। अर्थात् विषयी जिसका दास है, वह सेवक की दासी है। जिस प्रकार स्वधर्मनिष्ठ राष्ट्र प्रजा से लिए हुए टैक्स को प्रजा के हित में ही बाँट देता है, उसी प्रकार सेवक संसार की ओर से आई हुई शरीर आदि सभी वस्तुओं को संसार के हित में ही बांट देता है। जिस प्रकार व्यापारी का व्यापार धन में विलीन होता है, उसी प्रकार सेवक की सेवा सेव्य अर्थात् प्रेमपात्र में विलीन होती है। जिस प्रकार अग्नि ज्यों-ज्यों प्रज्वलित होती जाती है, लकड़ी त्यों-त्यों अग्नि बनती जाती है, उसी प्रकार ज्यों-ज्यों सेवा प्रबल होती जाती है, त्यों-त्यों सेवक की सत्ता सेव्य से अभिन्न होती जाती है। सेवक में स्वामी अर्थात् प्रेमपात्र निवास करता है, क्योंकि स्वामी के बिना सेवा हो ही नहीं सकती। सेवा तभी हो सकती है, जब

ऐश्वर्य तथा माधुर्य हो। ऐश्वर्य तथा माधुर्य स्वामी का स्वरूप है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सेवक में स्वामी निवास करता है। सेवक में सेवा करने से कभी थकावट नहीं आती, प्रत्युत ज्यों-ज्यों सेवा बढ़ती है, त्यों-त्यों उसकी शक्ति भी बढ़ती जाती है। सेवक के हृदय में सदैव व्याकुलता बनी रहती है और वह व्याकुलता की अग्नि सेवक को सेव्य से अभिन्न कर देती है।

सेवक दो प्रकार के होते हैं- एक तो गङ्गा की भाँति प्रत्यक्ष जन-समाज के सामने लहराते हैं, और दूसरे हिमालय की भाँति अचल होकर मूक-सेवा करते हैं। सेवा किए बिना संसार का राग निवृत्त नहीं होता। सेवा से भिन्न सभी साधन संसार को मृतकवत् जीवित रखते हैं। सेवा संसार को खा जाती है, मृतक नहीं बनाती। अर्थात् सेवक की निष्ठा समाधि से अतीत होती है, अथवा यों कहिए कि उससे प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों ही अवस्थाएँ निवृत्त हो जाती हैं। सभी साधक सेव्य को प्यार करते हैं और सेवक को सेव्य प्यार करता है। अतः प्रेमपात्र का प्रेम पाने के लिए सेवा करना परम अनिवार्य है।

सेवा करने के लिए बाह्य वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। बाह्य वस्तुओं के संगठन स तो पुण्य कर्म होता है। गहराई से देखिए, सेवा वही कर पाता है, जिस पर सेव्य अर्थात् प्रेमपात्र की कृपा होती है। अर्थात् भक्तों तथा सन्तों के अतिरिक्त और कोई भी प्राणी सेवा नहीं कर पाता। साधारण प्राणी वस्तुओं के संगठन से होने वाली प्रवृत्तियों को सेवा मानते हैं, किन्तु विचार-दृष्टि से वह सेवा नहीं है।

सेवा करने की शक्ति तो स्वामी के प्रसाद से ही आती है। जिस अंश में प्राणी अपनी सेवा कर पाता है, उसी अंश में वह दूसरों की सेवा कर पाता है। अर्थात् जिस साधन से प्राणी अपना हित करता है, उसी साधन से सेवा करता है। बाह्य वस्तुओं के संगठन से किसी भी प्राणी का हित नहीं हुआ, तो फिर उन वस्तुओं के संगठन से सेवा कैसे हो सकती है ? वस्तुओं का संग्रह करना, विश्व का ऋणी होना है। अतः वस्तुओं को विश्व के कार्य में लगा देना, ऋण से मुक्त होना है, सेवा करना नहीं। जब प्राणी विश्व के ऋण से मुक्त हो जाता है, तब उसमें प्रेमपात्र से सम्बन्ध करने की शक्ति आ जाती है।

प्रेमपात्र से सम्बन्ध होते ही प्रेमपात्र के ऐश्वर्य तथा माधुर्य से स्वतः सेवा होने लगती है। अर्थात् प्रीति प्रीतम का स्वभाव है। सेवक तथा सेवा, प्रीति तथा प्रीतम एक वस्तु हैं। सेवा करने के लिए सेवक होना अनिवार्य है। सेवक होने के लिए सद्भावपूर्वक प्रेमपात्र का होना अनिवार्य है। जिस प्रकार युवावस्था आने पर ही शिशु को युवावस्था का यथार्थ ज्ञान होता है, उसे किसी प्रकार सिखाया नहीं जा सकता। एक-एक सेवक के पीछे करोड़ों मनुष्य अनुसरण करने के लिए दौड़े, किन्तु वे सब मिलकर एक भी सेवक उत्पन्न नहीं कर पाए। जिसका हृदय सार्वजनिक दुःख से दुखी होता है और वह जब सेव्य का हो जाता है, तब सेव्य की कृपा से सेवा करने की शक्ति स्वतः आ जाती है। पुण्य कर्म से त्याग करने की शक्ति आती है, और त्याग से सेवक होने की शक्ति आती है। सेवक होने पर सेवा स्वतः होती है।

संसार तथा प्रेमपात्र दोनों का प्रेम पाने के लिए सेवा

करना परम आवश्यक है। जो प्राणी संसार से विमुख होकर प्रेमपात्र का बन जाता है, उसमें सेवा करने की शक्ति स्वयं आ जाती है। अतः सेवक होने के लिए प्रत्येक प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र है। सेवक होना उन्नति का साधन है, परन्तु सेवक कहलाना अवनति का कारण है। जिस प्रकार नदी की प्रगति सदैव समुद्र की ओर ही रहती है, उसी प्रकार सेवक की प्रगति सदैव सेव्य की ओर रहती है। जिस प्रकार नदी के सामने रुकावट आने पर नदी की गति तीव्र हो जाती है, उसी प्रकार सेवक के सामने प्रतिकूलता आने पर सेवा की गति और भी तीव्र हो जाती है, अर्थात् प्रतिकूलता सेवक का उत्थान करती है, पतन नहीं।

सेवक के जीवन में ज्ञान के अनुरूप भाव तथा क्रिया होती है, अर्थात् सेवक की क्रिया तथा भाव ज्ञान में विलीन होते हैं। सेवा नित्य स्वतन्त्रता की ओर ले जाती है। सेवक संसार का चिन्तन नहीं करता, प्रत्युत संसार सेवक का चिन्तन करता है। सेवक संगठन के पीछे नहीं दौड़ता, प्रत्युत संगठन सेवक के पीछे दौड़ता है। सेवक के जीवन में दीनता तथा अभिमान के लिए कोई स्थान नहीं रहता।

———

जीवन-पथ

ऐसा कोई भी मानव नहीं, जो कुछ भी न जानता हो, अर्थात् प्रत्येक मानव कुछ-न-कुछ जानता है। ऐसा भी कोई मानव नहीं है, जो कुछ भी मानता न हो, वह कुछ-न-कुछ मानता है। अत: मानने और जानने का जो समूह है, उस समूह का नाम ही मानव है। अब विचार यह करना है कि वह जो जानता है, उसका आदर करता है या अनादर और जो मानता है, उस पर विश्वास करता है या अविश्वास। यदि हम जाने हुए का अनादर करते हैं, तो हमारा जानना व्यर्थ है। यदि हम माने हुए का अविश्वास करते हैं, तो हमारा मानना निरर्थक है। मानना वही सार्थक होता है, जिसमें घोर विश्वास हो और जानना वही सार्थक होता है, जिसका आदर हो।

जानने के तीन साधन हैं—(१) इन्द्रियों के द्वारा, (२) बुद्धि के द्वारा और (३) अपने द्वारा—अपने आपके द्वारा। इन्द्रियों के द्वारा जो बात जानी जाती है, उसे भी 'ज्ञान' कहते हैं; बुद्धि के द्वारा जो बात जानी जाती है, उसे भी ज्ञान' कहते हैं और इन्द्रियाँ तथा बुद्धि—इन दोनों से रहित होकर जो जाना जाता है, उसे भी 'ज्ञान' कहते हैं। इन्द्रियों का ज्ञान बुद्धि के ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं, ज्ञान की न्यूनता है। जैसे, कोई कहे 'अँधेरा है' तो इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकाश नहीं है, बल्कि प्रकाश की

कमी है। जिस प्रकार प्रकाश की कमी का नाम अन्धकार है, वैसे ही ज्ञान की कमी का नाम अज्ञान है।

इन्द्रियों के ज्ञान को जो लोग सत्य या पूरा ज्ञान मान लेते हैं, उनमें राग की उत्पत्ति होती है। राग का मूल कारण है—इन्द्रियों के ज्ञान को पूरा ज्ञान मान लेना। उस राग का फल हुआ देहाभिमान की दृढ़ता, उसका फल हुआ भोग की प्रवृत्ति और उसका फल हुआ पराधीनता, जड़ता और शक्तिहीनता का अनुभव होना। ऐसा कोई भोगी नहीं है, जो इन तीन विकारों से बचा हो—पराधीनता से, जड़ता से और शक्ति-हीनता से। आप कहेंगे, कैसे ? बड़ी तीव्र भूख लगी हो और रुचिकर भोजन सामने हो; तथापि उसका पहला ग्रास जितना रुचिकर मालूम होता है, अन्तिम ग्रास उतना रुचिकर नहीं मालूम होता। अतः यह मालूम होता है कि पहले ही ग्रास में पराधीनता का अनुभव होता है। मनुष्य सोचने लगता है कि रसगुल्ला बड़ा अच्छा है। रसगुल्ले का मूल्य बढ़ गया, अपना घट गया। प्रसन्नता रसगुल्ले के आधार पर बढ़ गई। यह भोग की पराधीनता है।

दूसरा है कि खाते-खाते अब नहीं खा सकते, यह शक्ति-हीनता है। बहुत खा लिया, अब सो जाओ, यह जड़ता हो गई, चेतना नहीं रही। जिसको ज्ञान का प्रकाश कहते हैं वह, भोग के अन्त में नहीं रहता। आरम्भ में पराधीनता होती है, फिर शक्तिहीनता और फिर जड़ता—तीनों चीजें भोग में आ जाती हैं।

उसके पश्चात् प्राणी भोग से रहित हो जाता है। खाते-

खाते थक गए, अब नहीं खा सकते; चलते-चलते थक गए, अब नहीं चल सकते; देखते-देखते थक गए, अब नहीं देख सकते; सुनते-सुनते थक गए, अब नहीं सुन सकते। हमें अपनी वस्तु तो बहुत प्यारी है, लाओ लोहे की अलमारी में या बैंक में रख दें। वस्तु प्रिय है, लेकिन, हे वस्तु ! तुम्हारे बिना हम सोना चाहते हैं। हमारा मित्र बड़ा प्रिय है और हमसे मिलने आया है, लेकिन माफ कीजिए, हम सोना चाहते हैं। इस तरह से पति से पत्नी, पत्नी से पति, बालक से माँ और माँ से बालक, मित्र से मित्र—सब ऊब जाते हैं। कोई व्यक्ति, कोई देश, कोई काल ऐसा नहीं है कि जिससे आदमी ऊबकर अलग होकर विश्राम नहीं चाहता। प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में मनुष्य विश्राम चाहता है, न करना चाहता है, न करके की सोचता है। यह किसका ज्ञान है ? यह बुद्धि का ज्ञान है।

बुद्धि से मालूम हुआ कि जो मित्र हमें बड़ा प्रिय था, गहरी नींद लगने पर उससे भी हम क्षमा चाहने लगते हैं, परन्तु उसके साथ सम्बन्ध जोड़कर सोते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जगने पर वही संकल्प पुन: उठता है कि यही हमारा मित्र है। इस तरह से नित नया प्रेम उत्पन्न होता है। तो अगर हम बुद्धिजन्य ज्ञान का आदर करें, तो प्रत्येक नये क्षण में नये जीवन का अनुभव हो सकता है। लेकिन ऐसा होता नहीं, इसलिए कि इन्द्रियों के ज्ञान की आसक्ति है।

आज क्या दशा है ? हमारे जीवन में जो घटनाएँ होती हैं, वे अनुकूल हों या प्रतिकूल, लेकिन जब उनकी स्मृति हमारे हृदय में अङ्कित होती है, तो उससे व्यर्थ-चिन्तन होता है।

वह इसलिए कि उन घटनाओं के साथ जो इन्द्रियजन्य ज्ञान था, उसमें हम सद्भाव कर लेते हैं। 'इन्होंने हमको गाली दी, हमारा अनादर किया, हमारी बात नहीं मानी'—इन सब बातों से जो खिचाव होता है और मन में जो सब बातें अङ्कित रहती हैं, वे बुद्धिजन्य ज्ञान पर इन्द्रियजन्य ज्ञान का आदर कराती हैं।

मैं एकबार एक मुंसिफ के यहाँ ठहरा हुआ था। उनके यहाँ एक वकील साहब भी आते थे और बहुत-सी बातें करते थे। बातें करते-करते उनके मुँह से निकला कि हमारा लड़का इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में बी० ए० में पढ़ता है। हमने कहा— 'वकील साहब! इतने आदमियों के सामने इतना झूठ मत बोलिए।' उन्होंने कहा— 'नहीं-नहीं, स्वामीजी! मैं सत्य कहता हूँ।' मैंने कहा कि, 'अभी तो तुम कहते थे कि शरीर के परमाणु सात वर्ष में बदल जाते हैं। लड़का पैदा हुए बीस वर्ष तो हुए ही होंगे। वह बीस वर्ष का होगा। तो जिस बाप से पैदा हुआ था, वह तीन बार मर चुका और अब भी तुम उसे अपना लड़का कहते हो?' तो यह बुद्धिजन्य ज्ञान है। इन्द्रियजन्य ज्ञान वह है कि शरीर के सारे परमाणु बदल गए, लेकिन वह फिर भी उसे अपना लड़का कहता है। यह इन्द्रियजन्य ज्ञान की दृढ़ता है, सद्भाव है।

जब बुद्धिजन्य ज्ञान होगा, तो यह सद्भाव मिट जायगा और प्रतिक्षण नित्य नए जीवन का अनुभव होगा। हर चीज वर्तमान की मालूम होगी, लेकिन उसमें स्थिरता नहीं मालूम होगी, परिवर्तनशीलता मालूम होगी। इसे बुद्धिजन्य ज्ञान या

समझ का ज्ञान कहते हैं। इसी स वैराग्य की उत्पत्ति होती है। वैराग्य सीखा नहीं जा सकता, वैराग्य सिखाया नहीं जा सकता, बाजार में भी नहीं मिलता। वैराग्य की उत्पत्ति बुद्धिजन्य ज्ञान से होती है। उस समय 'प्रवृत्ति' निवृत्ति में बदल जाती है, 'भोग' योग में बदल जाता है, 'मन' बुद्धि में विलीन हो जाता है, 'इन्द्रिय' मन में विलीन हो जाती हैं और 'विषय' हो जाते हैं इन्द्रियों में लय। यह दशा केवल बुद्धिजन्य ज्ञान से आती है।

इस दशा के आ जाने पर जब बुद्धि सम हो जाती है, तो बुद्धि के लिए कोई काम नहीं रहता; क्योंकि मन में जब कोई संकल्प ही नहीं रहा, मन निर्विकल्प हो गया, तो बुद्धि के लिए भी कोई काम नहीं रहा, इन्द्रियों के लिए भी काम नहीं रहा, मन के लिए भी कोई काम नहीं रहा, तो दृश्य जो दिखाई देता था वह, जिन साधनों से दिखाई देता था वे साधन, और जो देखता था वह--ये तीनों गायब हो गए, तीनों समाप्त हो गए। इस समाप्ति में रमण करते-करते स्वतः विचार का उदय होता है और उस विचार के उदय से तत्वज्ञान होता है। उस तत्व-ज्ञान के होने पर 'यह', 'वह', 'मैं' इन तीनों की समाप्ति हो जाती है। बल्कि यों कहो कि 'यह' और 'मैं' मिटकर 'वह' रह जाता है। फिर कुछ करना शेष नहीं रहता।

चूँकि पहला प्रश्न ज्ञान का था, अतः मैंने निवेदन किया कि ज्ञान के तीन स्थल हैं - इन्द्रियों का ज्ञान, बुद्धि का ज्ञान और बुद्धि से परे का ज्ञान। बुद्धि से परे के ज्ञान में सृष्टि नहीं है, त्रिपुटी उसमें नहीं है। त्रिपुटी वहाँ है, जहाँ इन्द्रियों और बुद्धि का ज्ञान है। जहाँ बुद्धि का ज्ञान है वहाँ आस्था है, चिन्तन

नहीं है, और जहाँ इन्द्रियों का ज्ञान है वहाँ भोग है, योग नहीं है।

अब विचार यह करना है कि ज्ञान तो एक चीज है, लेकिन उसका अनुभव करने के तीन स्थल हुए—एक इन्द्रियाँ, दूसरा समझ और तीसरा स्वयं। तो समझ का ज्ञान इन्द्रियों की अपेक्षा ज्ञान है, परन्तु स्वयं का ज्ञान बुद्धि की अपेक्षा ज्ञान है। ऐसे ही ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा ज्ञान है, परन्तु समझ का ज्ञान उसकी अपेक्षा ज्ञान है। जैसे कोई कहे कि सौ रुपये वाला हजार रुपये के मुकाबले में निर्धन है और जिसके पास हजार रुपया है, वह लाख रुपये वाले के सामने निर्धन है। तो निर्धन वह है, जिसे दूसरे का धन अधिक दिखाई देता है और अपना धन कम दिखाई देता है।

इन इन्द्रियों और बुद्धि के ज्ञान से परे 'स्वयं' का ज्ञान है। ये तीनों ही ज्ञान एक ज्ञान से प्रकाशित हैं; जैसे कि एक सूर्य से ही आँख देखती है, विजली बनती है, बल्व जलता है, लेकिन मूल प्रकाश सूर्य का है, उसी के तेजस् तत्त्व से सब प्रकाशित हैं। उसी तरह से जो नित्य अनन्त आनन्द ज्ञान है, उसी से बुद्धि और इन्द्रियाँ प्रकाशित हैं।

यह मैंने आपके सामने ज्ञान के सम्बन्ध में थोड़ी-सी चर्चा की। अब रही वात यह कि हम कैसे ज्ञान का आदर करते हैं? वस्तुस्थिति क्या है? प्रत्येक भाई-बहिन को अपने सामने अपनी दशा को देखना चाहिए कि हम किस ज्ञान पर विश्वास करते हैं। हम इन्द्रियजन्य ज्ञान पर विश्वास करते हैं, या बुद्धिजन्य ज्ञान पर अथवा बुद्धि से परे के ज्ञान पर विश्वास करते हैं?

हम किसको आदर देते हैं ? यह स्वयं को देखना चाहिए। जो लोग इन्द्रियजन्य ज्ञान में विश्वास करते हैं, वे राग से रहित नहीं रह पाते और संसार को सत्य कहते हैं। बुद्धिजन्य ज्ञान वाले वैराग्य या योग लेते हैं और संसार को अनित्य कहते हैं तथा जो बुद्धिजन्य ज्ञान से परे के ज्ञान में विश्वास करते हैं, वे संसार को मिथ्या दृष्टि से देखते हैं।

इस तरह से संसार के सम्बन्ध में तीन दृष्टियाँ हुई—सत्य-दृष्टि, अनित्यदृष्टि और मिथ्यादृष्टि। सत्य-दृष्टि में या संसार को नित्य मानने वालों में कर्तापन और भोक्तापन विद्यमान रहता है। अनित्य दृष्टि वालों में अकर्तापन रहता है। और मिथ्यादृष्टि वालों में असङ्गपन होता है। यह सब कुछ ज्ञान के आधार पर ही होता है। इन्द्रियों के ज्ञान से भोग उत्पन्न होता है, बुद्धि के ज्ञान से योग हुआ और स्वयं के ज्ञान से तत्त्वज्ञान हुआ और स्वयं ज्ञानवाला 'तत्त्ववेत्ता' हुआ। इस तरह से ज्ञान ही सारे साधनों का मूल आधार हो सकता है।

परन्तु ज्ञान की अपेक्षा, जैसा मैंने कहा, मनुष्य कुछ मानता भी है, मनुष्य में कुछ और भी है। जो कुछ मैं जानता हूँ, उसके अनुसार कुछ मानता भी हूँ। अतः ज्ञान की साधना के बाद दूसरी बात है—मान्यता की। जब कोई मानता है कि, 'मैं हूँ और मेरे प्रभु हैं', उसी मान्यता का उसके जीवन में आदर होना चाहिए। अगर कोई उससे यह कहे कि, 'क्या यह हाथ तेरे हैं ?' तो वह कहेगा कि, 'हाथ हमारे नहीं हैं, लेकिन भगवान् हमारे हैं। भगवान् हमारे बिलकुल साथ हैं, इसमें भगवान् भूल कर सकते हैं, मैं नहीं कर सकता। इसकी मुझे

चिन्ता नहीं है कि भगवान् नहीं मिलेंगे।' अगर कोई यह कहे कि, 'तुम ऐसा करोगे, तो भगवान् तुम्हें नरक में भेज देंगे।' तो वह कहेगा—"मैं अनन्त काल तक नरक में रह सकता हूँ, लेकिन 'भगवान् मेरे हैं'—यह भाव कभी नहीं बदल सकता।" ऐसी जिसकी मान्यता है, ऐसा जिसका विश्वास है, ऐसी जिसकी दृढ़ता है, वही भक्ति और विश्वास का साधन कर सकता है। उसको ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, लेकिन यह दृढ़ विश्वास हो कि, 'भगवान् मेरे अपने हैं, और मैं भगवान् का हूँ।'

उसके लिए अनेक नाते हो सकते हैं। भगवान् मालिक हो सकते हैं, भगवान् मित्र हो सकते हैं, भगवान् पुत्र हो सकते हैं, पति हो सकते हैं। हर एक नाते भगवान् से लगाए जा सकते हैं। भगवान् शिष्य बन सकते हैं, गुरु बन सकते हैं, लड़का बन सकते हैं, पिता बन सकते हं, पति बन सकते हैं, मित्र बन सकते हैं, स्वामी बन सकते हैं। सब कुछ बन सकते हैं, इसमें भगवान् को कोई आपत्ति नहीं। ऐसा क्यों होता है ? यह नियम है कि जो अनन्त होता है, उसमें हीनता का भ्रम नहीं होता। वह किसी सम्बन्ध से नहीं घबराता। वह चेला बनने से नहीं घबराता, लड़का बनने से नहीं घबराता, साला बनने से नहीं घबराता; क्योंकि अनन्त होने से भगवान् में हीनता का भ्रम नहीं होता। बहनोई बनना तो सब चाहते हैं, लेकिन भगवान् साले भी बन सकते हैं, सखा भी बन सकते हैं और पुत्र भी बन सकते हैं। अर्जुन के साले बने थे और सखा भी। पति भी बन सकते हैं—मीरा के पति बने। पुत्र भी बन सकते हैं—कौशल्या और यशोदा के पुत्र बने। स्त्री भी बन सकते हैं, विश्वमोहनीरूप में।

कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् को किसी भी सम्बन्ध से कोई ऐतराज नहीं है, आपत्ति नहीं है। वे प्रत्येक सम्बन्ध को स्वीकार कर सकते हैं। लेकिन यह साधना बुद्धि से नहीं चलती, यह हृदय से चलती है। जिनको बुद्धि लगानी हो, उनके लिए यह साधना नहीं है। उनको तो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना है और ज्ञान प्राप्त करके बुद्धि से ऊपर उठ जाना है। लेकिन विश्वास की साधना करने के लिए इसके अलावा कोई और साधना नहीं कि, 'भगवान् मेरे अपने हैं और उन्हीं से मेरा नाता है।' कोई अपने को भगवान् का अलंकार बनना भी पसंद कर सकता है, जैसे हम उनके नूपुर हैं, वंशी हैं, पीताम्बर हैं इत्यादि। उनके कोई भी अलंकार हो सकते हैं, क्योंकि भगवान् की प्रत्येक वस्तु दिव्य और चिन्मय है। जिस धातु के भगवान् हैं, उसी धातु के भगवान् के अलंकार हैं। भगवान् के परिकर भी उसी धातु के हैं। उनकी गैया-मैया भी उसी धातु की हैं, ग्वाल-बाल, ब्रज, गोलोक, साकेत और अवध भी उसी धातु के हैं और वे भी दिव्य तथा चिन्मय हैं।

यह साधना किसकी है? जिसे विश्वास हो। जिसको विश्वास नहीं है, उसे यह साधना नहीं करनी चाहिए। अतः जो लोग मानते हैं और बिना माने हुए रह ही नहीं सकते और माने हुए को निकाल नहीं सकते, उनके लिए यह विश्वास-मार्ग की साधना है। इसका मूलमन्त्र है केवल यह मानना कि, 'भगवान् मेरे अपने हैं और मैं भगवान् का हूँ, मैं और किसी का नहीं हूँ'—यह तो हुई भक्ति। और 'भगवान् मेरे हैं'—यह हुआ प्रेम। प्रेम में अपने के साथ अपनापन होता है और भक्ति में अपने को भगवान् को दिया जाता है। प्रेम भगवान्

को ले लेता है और भक्त अपने को दे देता है। चन्द्रावली जी कहती हैं कि 'मैं श्रीकृष्ण की हूँ' और किशोरी जी—राधाजी कहती हैं कि 'श्रीकृष्ण मेरे हैं।' जिस धातु के श्रीकृष्ण हैं, उसी धातु की चन्द्रावली हैं, उसी धातु की श्रीराधा हैं। भक्त का स्वरूप भगवान् का स्वरूप है। भक्त की दृष्टि में सृष्टि नहीं रहती, वही एकमात्र दिव्य चिन्मय तत्त्व रहता है।

सृष्टि केवल विषयी प्राणियों के लिए है। विषयी प्राणी जिज्ञासु और भक्त नहीं हो सकता। वह तप कर सकता है, पुण्य कर सकता है। अनीश्वरवादी दान भी कर सकता है; पर वह प्रेम नहीं कर सकता, संसार से विमुख नहीं हो सकता।

अब हमें और आपको देखना यह है कि हम कौन वादी हैं? भौतिकवादी हैं, ईश्वरवादी हैं अथवा अध्यात्मवादी हैं। यदि भौतिकवादी हैं, तो सारे विश्व को कुटुम्ब मानकर ऐसा काम करें, जिससे सारे संसार का हित हो। इस भौतिकवाद से भी उत्कृष्ट भोगों की प्राप्ति हो जाएगी। यदि ईश्वरवादी हैं और सरल विश्वासपूर्वक हमारी ऐसी भावना है कि 'भगवान् हमारे हैं, हमारी उनकी जाति एक है, हम पर उनका पूरा अधिकार है, संसार पर हमारा अधिकार नहीं है और संसार का हम पर अधिकार नहीं है।' तो यह ईश्वरवादी होने के नाते हमारी साधना है।

परन्तु जो विचारक हैं, जिज्ञासु हैं, वे इस प्रकार सोचते हैं कि, 'यह, जो दिखाई देता है, इन्द्रियजन्य ज्ञान है, इसमें जो परिवर्तन का अनुभव होता है, वह बुद्धिजन्य ज्ञान है और

इस इन्द्रियजन्य ज्ञान और बुद्धिजन्य ज्ञान से अतीत का जो ज्ञान है, वह तत्त्वज्ञान है।'

इस प्रकार तीन दृष्टियाँ हुईं—भौतिक दृष्टि, आस्तिक दृष्टि और आध्यात्मिक दृष्टि। भौतिक दृष्टि से सर्व-हितकारी कर्मों को करना है, आस्तिक दृष्टि से अपने को दे डालना है और आत्म-समर्पण करना है, एवं आध्यात्मिक दृष्टि से असङ्गता, विमुखता और निष्कामता आती है। फिर चाहे आप अपने को समर्पित करके आस्तिक दृष्टि को अपनाएँ, अथवा सर्वहितकारी प्रवृत्ति के द्वारा भौतिक दृष्टि को अपनाएँ। भौतिक दृष्टि की साधना से मनुष्यत्व का विकास होता है तथा आस्तिक दृष्टि से शरणागत भाव का, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से असङ्गता, विमुखता और निष्कामता आएगी और उससे भी विकास होगा।

अब साधक को सोचना है कि उसे बुद्धि के स्थल से साधना करनी है या हृदय के स्थल से अथवा शरीर के स्थल से। शरीर के स्थल से सर्वहितकारी प्रीति की प्राप्ति होगी, हृदय के स्थल से सरल विश्वास की प्राप्ति होगी और बुद्धि के स्थल से असङ्ग बनना होगा।

मनुष्य के पास तीन चीजें हैं—शरीर है, हृदय या मन है और तीसरी बुद्धि है। अगर आप कहें कि तीनों से साधना करना चाहते हैं, तो शरीर से श्रमयुक्त और संयम-युक्त हो जाओ; हृदय से प्रेमयुक्त हो जाओ और बुद्धि से मोह-रहित हो जाओ। तो संयम-युक्त शरीर से शक्ति प्राप्त होगी, विवेक-युक्त बुद्धि से मुक्ति की प्राप्ति होगी और प्रेमयुक्त

हृदय से भक्ति मिल जाएगी। इस प्रकार शक्ति, मुक्ति और भक्ति—तीनों आपको मिल सकती हैं। ये तभी मिल सकती हैं, जब आप में सबसे बड़ी बात ईमानदारी हो।

अगर आप भगवान् को मानते हैं, तो उस मान्यता का परिचय हमारे-आपके जीवन से हो, केवल विचारों से नहीं। हमारा जीवन बता दे कि हम भगवान् को मानते हैं। अगर हम भगवान् को मानते हैं, तो जितनी घटनाएँ हमारे मन के विरुद्ध हों, उनमें हर्षित होना चाहिए। क्यों हर्षित होना चाहिए ? क्योंकि भगवान् के माननेवाले के जीवन में किसी और का अस्तित्व शेष नहीं रहता। सर्वदा वह यही देखता है कि जो कुछ होता है, भगवान् की सत्ता से होता है, भगवान् के द्वारा होता है। उसके मन के विरुद्ध भी यदि कोई बात होती है, तो उसमें उसे रस आता है और वह सोचता है कि आज मेरे प्यारे के मन की बात हुई। आप जिसके मन की बात कर देंगे, वह आपके अधीन हो जाएगा।

जब अपने मन की बात नहीं हुई, तो वह दूसरे के मन की हुई, यानी भगवान् के मन की बात हुई; क्योंकि भक्त की दृष्टि में भगवान् के सिवा और किसी की सत्ता नहीं रहती। वह सोचता है कि आज हमारे मन की बात नहीं हुई है, तो इसका अर्थ है कि वह भगवान् के मन की हुई। भगवान् के मन की बात हुई, इसके अर्थ होंगे कि भगवान् मुझे अपनाना चाहते हैं, प्रेम करना चाहते हैं, मेरे होकर रहना चाहते हैं; क्योंकि जो अपने मन की बात करता है, वह उसका होकर रह जाता है।

पति उस स्त्री का होकर रहता है, जो सर्वदा पति के मन की बात करती है। और पति यदि स्त्री के मन की बात करता है, तो स्त्री उसकी गुलाम बन जाती है। माता पुत्र के मन की बात करती है, तो पुत्र उसका गुलाम बन जाता है। और पुत्र माता के मन की बात करता है, तो माता उसकी गुलाम बन जाती है। अतः दुनिया का नियम है कि जो आपके मन की बात कर देगा, उसके गुलाम हुए बिना आप रह नहीं सकते।

अतः जब हम भगवान् के मन की बात कर देंगे, तो उन्हें हमारे होकर ही रहना पड़ेगा। जितने आस्तिक होते हैं, वे प्रत्येक प्रतिकूलता में अपने परम प्रेमास्पद की अनुकूलता का अनुभव करते हैं कि अब हमारे प्यारे ने अपने मन की बात करना आरम्भ कर दिया, अब वे हमें जरूर अपनाएँगे। जब तक हमारी कामनाओं की पूर्ति होती रहती है, तब तक हमें समझना चाहिए कि भगवान् हमें दूर रखना चाहते हैं; जैसे माँ अच्छी वस्तुएँ, इच्छानुसार खिलौने और थोड़ी-सी मिठाई देकर बालक को गोद से दूर करने का उपाय करती है और अपनी गोद से वंचित रखती है।

यदि हमारे मन की बात होती है, तो समझना चाहिए कि भगवान् हमें दूर रखना चाहते हैं और हमारे मन की बात नहीं हुई, तो भगवान् हमें अपनाना चाहते हैं। अगर हमें कोई अच्छी वस्तु मिल जाती है, तो समझना चाहिए कि भगवान् माता की तरह बहलाना चाहते हैं, परन्तु अगर हमारा धन नष्ट होता है, तो समझना चाहिए कि भगवान् हमें निर्लोभ बनाकर रखना चाहते हैं।

जब प्रतिकूलताओं में पूण अनुकूलताओं का अनुभव हो, और एक रसता को उत्पत्ति हो, तो समझना चाहिए कि आज से हमारा नाता भगवान् के साथ पक्का हो गया। अगर भगवान् का नाम लिया और नौकरी मिल गई, तो समझो कि भगवान् का नाता टूट गया और नाम लेने की मजदूरी मिल गई। फिर तो बस, खाए जाओ रसगुल्ला और छुए जाओ पर। होगा कुछ नहीं। अगर कहीं गुरु बन जाओ, तो भगवान् ने कहा कि मेरे प्रेम से वंचित रहो, चेले-चेलो में रमण करो।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रतिकूलता में यदि आप अनुकूलता का अनुभव कर सकते हैं, तो भक्त हो सकते हैं। जो कुछ हो रहा है, उसे मायामात्र जानकर अत्यन्त अभाव का अनुभव कर सकते हैं, तो आप अध्यात्म-जीवन में प्रवेश करते हैं। यदि अपने सुख को उदारतापूर्वक बाँट सकते हैं, तो भौतिक-जीवन में सफल हो सकते हैं। इस प्रकार तीन बातें हैं—संसार में यदि सफल होना है, तो सुख को उदारतापूर्वक बाँट दो; फिर संसार की कोई शक्ति नहीं है, जो तुमको ऊँचा स्थान न दे। अगर तुम चाहते हो कि भगवान् हमको अपनाएँ, तो उनके मन की बात में राजी रहो, अपना मन उनको दे दो। अगर चाहते हो कि आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश हो, तो समझो कि जो कुछ दिखाई देता है, वह सब प्रपंच है, माया-मात्र है, असत् है, उसका अत्यन्त अभाव है। वह न पहले कभी था, न अब है, न आगे कभी होगा, ऐसा विचार करो।

तीन बातें हुई–प्रतिकूलताओं का आदर, सुख का वितरण और संसार को मायामात्र समझकर उसका अत्यन्त अभाव स्वीकार करना। यह तीन प्रकार की दृष्टियाँ हैं। इन तीनों में,

जो दृष्टि आपको अनुकूल मालूम होती हो, उसी के अनुसार आप साधना करें। संसार में रहें, तो उन्नतिशील बन कर रहें। भोगी हों, तो ठीक-ठीक और तत्त्ववेत्ता हों, तो ठीक-ठीक। भगवान् इससे नाराज नहीं होते कि तुम संसार में क्यों रहते हो, भौतिकवादी क्यों बनते हो। भगवान् अनीश्वरवादियों के भी प्रतिकूल नहीं हैं। अगर भगवान् उनके प्रतिकूल होते, तो हवा उनको साँस लेने से रोकती, जल उनकी प्यास नहीं बुझाता, अग्नि उनको जला देती; क्योंकि भगवान् उन सबमें व्याप्त हैं।

अतः भगवान् को तो उन्नति प्रिय है, भौतिकवादी भी यदि उन्नति करेगा, तो भौतिकता के रूप में वे उसे मिलेंगे। अगर आप हृदय की उन्नति करेंगे, तो वे प्रेम के रूप में आपको मिलेंगे। अगर आप अपना विवेक ऊँचा उठाएंगे, तो ज्ञान के रूप में मिलेंगे। इस प्रकार भगवान् संसार में भौतिकरूप में, प्रेम के रूप में और तत्त्वज्ञान के रूप में मिल सकते हैं और ये सारी चीजें मिलकर एक होती हैं और उसका नाम 'भगवान्' होता है। भगवान् का कोई एक ठिकाना नहीं है। ऐसा नहीं है कि संसार अलग हो, तत्त्वज्ञान अलग हो, भक्ति अलग हो और भगवान् अलग हो। सब मिलकर जो चीज है, उसी का नाम भगवान् है।

अब आपको सोचना है, क्योंकि व्यक्ति एकदेशीय होता है और भगवान् सर्वदेशीय। आप संसार में उन्नतिशील बनकर रहना चाहते हैं, तो वे आपसे संसार के रूप में भेंट करेंगे, वास्तविक स्वरूप में नहीं मिलेंगे। भगवान् को अवनति अप्रिय है। उन्नति की ओर चलो, चाहे भौतिक उन्नति हो, चाहे आस्तिकवाद या अध्यात्मवाद की उन्नति। अगर आप भौतिक

उन्नति करते हैं, तो जीवन में संयम, सदाचार, सेवा, त्याग और श्रम होना चाहिए। आस्तिकवाद की उन्नति दृढ़ता, सरल विश्वास और शरणागति से होती है। और अध्यात्मवाद की उन्नति विचार, त्याग और निज-ज्ञान के आदर से होती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि हमें स्वयं अपने आप निर्णय करना है कि हम भौतिक उन्नति की ओर जाना चाहते हैं, आस्तिक होना चाहते हैं अथवा आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं! यदि थोडा-थोड़ा तीनों में अधिकार रखना चाहते हों, तो शरीर को भौतिक बना दो, हृदय को आस्तिक बना दो और बुद्धि को आध्यात्मिक बना दो। शरीर के भौतिक बन जाने से वह श्रम, संयम, सदाचार, सेवा और त्याग से युक्त हो जाएगा; और हृदय में आस्तिकवाद अपनाने से राग-द्वेष मिटकर प्रेम की गंगा बहेगी तथा जिसकी बुद्धि विवेकयुक्त है, वह तत्त्वनिष्ठ हो सकता है और मुक्ति पा सकता है। 'अध्यात्म जीवन' नित्य-जीवन प्रदान करता है; आस्तिकवाद त्याग और प्रेम की बुद्धि करता है तथा संयम, सदाचार, सेवा द्वारा भौतिकवादी के सुख की वृद्धि होती है।

अब आप चाहे भौतिक सुखों को लीजिए, चाहे भक्ति प्राप्त कीजिए और चाहे तत्त्वज्ञान को प्राप्त कीजिए। आप इन तीनों चीजों को प्राप्त करने में सर्वदा स्वतन्त्र हैं। आस्तिकवाद, तथा अध्यात्मवाद में पराधीनता का नाम नहीं है। वे किसी परिस्थिति पर निर्भर नहीं हैं। भौतिकवाद परिस्थिति पर निर्भर है। जैसी परिस्थिति होगी, उसी के अनुसार भौतिक-

वादी अपना साधन करता है। आस्तिकवाद और अध्यात्म-वाद के लिए त्याग की आवश्यकता है, उसका मूल्य चुकाना होगा। सरल विश्वास के ऊपर, बिना किसी शर्त के अगर आप अपने को भगवान् को दे सकते हैं, प्रतिकूलताओं में उनकी कृपा का अनुभव कर सकते हैं, तो आप आस्तिक हो जाइए। अगर आप दृश्यमात्र से असङ्ग हो सकते हैं, तो अध्यात्मवादी हो जाइए और यदि अपना सुख बाँट सकते हैं, तो भौतिकवादी हो जाइए। जिसमें आपकी मरजी हो, उसी में प्रविष्ट हो जाइए।

कहने का तात्पर्य यह है कि जितने प्रश्न मेरे सामने आए थे, उनमें जहाँ तक मैंने समझा थोड़ी-थोड़ी हर एक प्रश्न पर बात कह दी और कुछ अपने मन की बात भी कह दी। जैसा मैंने कहा था कि जो मन की अनुकूलता में रमण करता है, वह भगवान् के प्रेम से वंचित हो जाता है, इसमें कम-से-कम मुझे तो सन्देह नहीं है। अनुकूलता ने मुझे भगवान् से विमुख किया है, और किसी ने नहीं।

अत: जो अनुकूलता का स्वप्न देखते हैं और उसके पीछे है दौड़ते चले जा रहे हैं, वे भगवान् से विमुख रहते हैं; जैसा कि मैं रहा हूँ। जो प्रतिकूलता को हृदय से लगा सकते हैं, वे भगवान् के सम्मुख होते हैं, यह भी मेरे हृदय की बात है। अगर आप उनको पाना चाहते हैं, तो अनुकूलता को निकाल कर प्रतिकूलता को हृदय से लगाना होगा, क्योंकि जिसे वे अपने से अलग करना चाहते हैं; उसे अनुकूलताएँ दे देते हैं और अपने से वंचित कर देते हैं। उनके पास तो कल्पवृक्ष है, वे सब कुछ दे सकते हैं।

अगर आपको उनके बिना अनुकूलता प्रिय है, तो वह उसी प्रकार की है कि एक सुन्दर कमरा सजा है और आप दोस्त के बिना हैं, एक सुन्दर स्त्री शृङ्गार करे और पति से वंचित रहे या शरीर आत्मारहित हो। आस्तिकवाद का न होना जीवन में अकेले पड़े रहने के समान है। केवल भौतिकवाद क्या है? शृङ्गारयुक्त स्त्री, जो पतिवंचिता हो या सजा हुआ कमरा, जो मित्र के बिना हो। मानव-जीवन में भौतिकता का स्थान ऐसा है, जैसे सुन्दर मकान सजाना, सुन्दर शरीर सजाना, सुन्दर सड़क बनाना, लेकिन रहने वाला अकेला हो।

आस्तिक तथा आध्यात्मिक जीवन ऐसा है, जैसे मकान भी सुन्दर हो, रहने वाला भी सुन्दर हो, तथा नित्य-जीवन भी हो, साथी भी हो और वह बड़ा प्रेमी हो तथा जीवन भी अनन्त हो। अतः आस्तिकवाद और अध्यात्मवाद के साथ-साथ भौतिक जीवन को बनाना होगा। यदि आप चाहते हैं कि चाहे हमारा दोस्त न रहे, पर मकान रहे; यह तो भौतिकवाद है और यदि मकान के साथ-साथ दोस्त भी मौजूद हो, तो यह आस्तिक जीवन है, अध्यात्म जीवन और नित्य-जीवन है। मकान सुन्दर बने—यह हर एक परिस्थिति को सुन्दर बनाने की बात है।

जो परिस्थिति के पीछे पड़े हैं और जिनमें प्रीति की माँग जीवन में नहीं है, वे भौतिकवादी हैं। और जिनमें प्रीति की माँग जीवन में है, वे आस्तिकवादी हैं। हृदय प्रेम से भरा हो. अपने नित्य-जीवन का अनुभव हो और शरीर कहो, संसार कहो, उसमें संयम, सदाचार और सुन्दरता हो।

ये तीन बातें हुईं—एक शरीर की उन्नति की, दूसरी हृदय की उन्नति की और तीसरी समझ की उन्नति की। शरीर में श्रम, सदाचार, संयम हो; हृदय में केवल प्रेम और समझ में अपने नित्य-जीवन का अनुभव हो—जहाँ ये तीनों बातें आ जाती हैं, वहीं मानव-जीवन की पूर्णता है। संयम, श्रम, सदाचार, प्रेम और नित्य-जीवन—यही मानव-जीवन है और यही मैंने अपने मन की बात कही है।

वास्तविक राष्ट्र निर्माण

प्रश्न -क्या समाजवाद या पूँजी के विभाजन से भारत की समस्या हल हो जाएगी ?

उत्तर—केवल पूँजी के विभाजन से परिस्थिति तो सँभल जाएगी, परन्तु व्यक्तियों का निर्माण न होगा। व्यक्तियों के निर्माण के बिना, अनुकूल परिस्थिति भी हितकर नहीं होती। जिस प्रकार पागल का स्वस्थ शरीर भी कुछ काम नहीं आता, वही दशा धर्मशून्य साम्यवाद की होगी।

प्रश्न—क्या धर्मयुक्त भी साम्यवाद है ? समाजवादी नेता तो कहते हैं कि धर्म के गीत गाने वालों ने मानव-समाज को अत्यन्त दुःखी कर दिया है।

उत्तर—धर्म का वास्तविक स्वरूप न जानने के कारण वे लोग ऐसा सोचते हैं। धर्म का मूलमंत्र केवल दो बातें सिखाता है—किसी के ऋणी बनकर मत रहो, और प्रत्येक कार्य विश्व के नाते अथवा भगवत्-नाते करते रहो।

प्रश्न -किसी के ऋणी न रहने का अर्थ क्या है ?

उत्तर—तुम अपने जीवन का अध्ययन करो। जब तुम बच्चे थे, तब तुम्हारा किसी ने पालन-पोषण किया ही था। जब तुम बीमार होते हो, तब कोई-न-कोई सेवा करता ही है। जब तुम अबोध थे, तब तुमको किसी-न-किसी ने शिक्षित तो किया ही था।

प्रश्न –आपकी मूकभाषा मेरी समझ में नहीं आती है। कृपया स्पष्ट कर दीजिए।

उत्तर –देखो प्यारे, प्रत्येक व्यक्ति पालन करने वाले का और सेवा (Nursing) तथा शिक्षा देने वाले का ऋणी है।

प्रश्न—तब फिर मुझे उस ऋण से मुक्त होने के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर—तुम एक बाल मन्दिर खोलो और सपत्नीक ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहकर देश के बच्चों की देख-भाल करो। मां-बाप की गोद में बच्चों का वास्तविक विकास सम्भव नहीं है, क्योंकि माँ-बाप से प्यार तो मिलता है, किन्तु न्याय नहीं, और नौकरों के द्वारा न्याय मिलता है, प्यार नहीं। बालक का यथेष्ट विकास तभी सम्भव है,जब उसका पालन प्यार तथा न्यायपूर्वक किया जाय।

जब तुम समाज के बालक-बालिकाओं का अपने शिशु की भाँति पालन करोगे, तो तुम पालन करने वाले के ऋण से मुक्त हो जाओगे और तुम्हारी न्याय तथा प्यारपूर्वक की हुई सेवा से बालकों का भी विकास होगा। इतना ही नहीं, तुम्हारे मन से स्वार्थ-भाव भी मिट जाएगा, जिससे तुमको जितेन्द्रियता प्राप्त होगी। जितेन्द्रियता प्राप्त होने पर तुम अपनी योग्यतानुसार सत्य की खोज कर सकोगे, जिससे तुम्हारा भी विकास होगा।

केवल वस्तुओं के आधार पर जीवन व्यतीत करना मनुष्य के स्वरूप में पशुता है। वस्तुओं से अतीत जो तत्त्व है, उसको प्राप्त करने पर ही तुम सच्ची स्वतन्त्रता का अनुभव कर

सकोगे। जिस समाज में स्वतंत्र व्यक्तियों का निर्माण नहीं होता, उसका विकास सीमित ही होता है।

प्रश्न—क्या यह कार्य राष्ट्र का नहीं है ?

उत्तर—यह कार्य कभी कोई राष्ट्र नहीं कर पाया; क्योंकि नौकर के द्वारा सेवा नहीं हो सकती। जो बेचारा स्वयं भोग में ग्रसित है, वह सेवा नहीं कर सकता। सेवा वही कर सकता है, जिसका जीवन भिक्षा के आधार पर निर्भर हो, और जो अर्थ और काम की वासनाओं से मुक्त हो।

न्यायदृष्टि से संग्रह की हुई सम्पत्ति पर केवल तीन प्रकार के प्राणियों का अधिकार है—बालक, रोगी तथा विरक्त का। बालक और रोगी अर्थोपार्जन में असमर्थ हैं और सेवक को अर्थोपार्जन के लिए अवसर नहीं है। इतना ही नहीं, उपार्जित अर्थ के आधार पर रहने वाला मनुष्य समाज से अभिन्न तथा निरभिमानी नहीं हो पाता। अभिन्नता के बिना सच्चा समाजवादी और निरभिमानता के बिना छिपी हुई नवीन शक्ति का विकास नहीं हो पाता। यह निर्विवाद सिद्ध है!

वर्तमान सुधारवादी तो किसी एक पार्टी के प्रतिनिधि बनकर द्वेष तथा स्वार्थ के आधार पर संगठन बना, पशुबल को उपार्जित कर, किसी के विनाश से किसी के विकास की बात कहते हैं। वे बेचारे इस प्राकृतिक विधान को नहीं जानते कि जिसका जन्म ही विनाश से होगा, भला उसका परिणाम विकास कैसे हो सकता है! अभी वे ऊपर से तो स्वतन्त्र हो गए हैं, किन्तु भीतर से पश्चिमी सभ्यता में आबद्ध हैं। उन्हें

कोई मार्ग दिखाई नहीं देता। मस्तिष्क की दासता से अभी वे मुक्त नहीं हैं। वाह्य चमत्कारों से उनकी बुद्धि चकाचौंध में फँस गई है। पद का अभिमान विचार को उत्पन्न नहीं होने देता।

त्याग और प्रेम के आधार पर स्वार्थयुक्त जन-समाज संघठित होने में भय करता है, परन्तु प्राकृतिक विधान के अनुसार जो संघठन त्याग तथा सेवा के आधार पर नहीं है, वह अवश्य मिट जाएगा। यह परम सत्य है।

देश के बच्चे, रोगी, संग्रह की हुई सम्पत्ति और सेवक, ये चारों एक हो जायँ। इन चारों का संघठन ही सच्चा संघठन है, क्योंकि जब अर्थोपार्जन तथा उपभोग करने वाली पार्टी के ऊपर बच्चों के पालन तथा रोगियों की सेवा का बोझा न रहेगा, तब वे निश्चिन्त होकर अपने कार्य को कर सकेंगे। आज बच्चों तथा रोगियों की चिन्ता मानव को वीर तथा कार्यकुशल नहीं होने देती।

जहाँ सरकारी अस्पताल हो, वहीं एक शुश्रूषा-आश्रम और जहाँ विद्यालय हो, वहाँ एक बाल-मन्दिर का होना अनिवार्य है। बाल-मन्दिर तथा शुश्रूषा-आश्रम में ही वह संग्रह की हुई सम्पत्ति, जो केवल बैंकों का हिसाब बढ़ा रही है, आ जानी चाहिए; क्योंकि सिक्के से वस्तुओं का, वस्तु से व्यक्तियों का, व्यक्तियों से विवेक का और विवेक से उस नित्य जीवन का, जो परिवर्तन से अतीत है, अधिक महत्त्व है।

सिक्के की दासता ने वस्तुओं का उपार्जन नहीं होने दिया,

जिसके कारण भोजन की सामग्री कम हो गई है। स्वास्थ्य-वर्द्धक भोजन (Nourishment) ठीक न होने से अनेक प्रकार के रोगों की वृद्धि हो रही है। आज वेजीटेबिल मिल के लिए तो सम्पत्ति है, किन्तु डेयरी फार्म के लिए नहीं। पूँजी-पतियों की इस भूल ने मानव के स्वास्थ्य को खा लिया है। वे ऊपर से तो अहिंसा के गीत गाते हैं, किन्तु पशुओं को न खाकर मनुष्यों को खा जाते हैं।

यदि पूँजीपति धर्मशून्य राजनीतिक नेताओं के अत्याचारों से बचना चाहते हैं, तो उनको संग्रह की हुई सम्पत्ति स्वेच्छा-पूर्वक बाल-मन्दिर और शुश्रूषा-आश्रम के बनाने में लगा देनी चाहिए, अर्थात् अपनी सम्पत्ति सच्चे सेवकों के हाथ में दे देनी चाहिए, नहीं तो समाज-सुधार के गीत गाकर साम्यवादी और समाजतंत्रवादी डाकुओं की भाँति छीन लेंगे, अथवा विधान बदल कर पूँजीवाद मिटा देंगे। इतना ही नहीं, हिन्दू अपने को हिन्दू और मुसलमान अपने को मुसलमान न कह सकेगा और न वस्तु से व्यक्ति का मूल्य अधिक होगा, क्योंकि पार्टी का प्रतिनिधि बनकर जो कार्य किया जाएगा, उससे केवल पार्टी सुदृढ़ होगी, व्यक्ति का निर्माण नहीं होगा।

व्यक्तियों के निर्माण के बिना सच्चाई, ईमानदारी और निष्पक्षता का प्रादुर्भाव नहीं होता और न स्वार्थभावना मिटती है। एक पार्टी सदैव दूसरी पार्टी को मिटाने के लिए तत्पर रहती है, जैसा कि अनेक स्वतन्त्र देशों में हो रहा है। यदि पाठकगण विचार करें, तो उन्हें भलीभाँति ज्ञात होगा कि कांग्रेस जैसी अहिंसा तथा सत्य का अनुसरण करने वाली पार्टी भी सफलता मिलने पर वैसी न रही, जैसी थी, अर्थात् पक्षपात

में फँस गई। उसका मूल कारण यही है कि कांग्रेस व्यक्तियों का निर्माण नहीं कर सकी।

जिस देश के पूँजीपति तथा विद्वान् विषयासक्त हो जाते हैं, उस देश का शासन दूषित हो जाता है, क्योंकि शासन करने वाली संस्था का जन्म विद्वानों तथा पूँजीपतियों के आधार पर ही निर्भर है; जिस प्रकार बुद्धि और प्राण के आधार पर ही शरीर की सारी व्यवस्था चलती है। शरीर में जो स्थान बुद्धि का है, समाज में वही स्थान विद्वानों का है तथा शरीर में जो स्थान प्राण का है, समाज में वही स्थान पूँजीपतियों का है। अतः पूँजीपतियों तथा विद्वानों का सुधार होने पर ही राष्ट्र का यथेष्ट निर्माण हो सकता है।

बाल-मन्दिर तथा शुश्रूषा आश्रमों की सेवा करने वाले विद्वानों के द्वारा ही गवर्नमेण्ट का निर्वाचन होना चाहिए। जो उन विद्वानों में-से वीतराग पुरुष हों अर्थात् जिनका मोह नष्ट हो गया हो, उनको विधान बनाने का अधिकार होना चाहिए। मोहयुक्त प्राणी प्राकृतिक विधान को समझ नहीं पाता और उसके जाने बिना, पक्षपात-शून्य विधान बन नहीं सकता। राष्ट्र का कर्तव्य तो केवल वीतराग पुरुषों के बनाये हुए विधान का पालन करना है।

इस समय सच्चे सेवकों की बड़ी कमी है। उसकी पूर्ति तभी हो सकती है, जब पूँजीपति और विद्वान मिलकर देश के बच्चों का और रोगियों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लें। विज्ञान और कलाओं की शिक्षा राष्ट्र दे सकता है, किन्तु भारतीय संस्कृति की शिक्षा धर्मात्मा सेवक के द्वारा

ही हो सकती है। अतः पूँजीपति तथा विद्वानों को मिल जाना चाहिए, नहीं तो सुधार की आँधी में संग्रह किया हुआ धन भी लुट जाएगा। एक पार्टी दूसरी पार्टी को सदैव मिटाती रहेगी, जो अवनति का मूल है।

प्रश्न—क्या ऐसा कोई विद्वान आपको मिला है, जो बालमन्दिर के द्वारा सेवा करना पसन्द करता हो ?

उत्तर—विद्वान तो कई मिले हैं, किन्तु पूंजीपति अभी तक कोई नहीं मिला। इसी कारण यह पद्धति समाज में प्रचलित नहीं हुई। जब समाज को यह विश्वास हो जाएगा कि बच्चों की शिक्षा-दीक्षा तथा रोगियों की सेवा धर्मात्माओं ने अपने हाथ में ले ली है, तब समाज का प्रत्येक व्यक्ति वीर बन जाएगा और संग्रह की भावना मिट जाएगी। यदि हिन्दुस्तानी पूँजीपतियों तथा विद्वानों ने ऐसा नहीं किया, तो भारतीय संस्कृति और पूँजी दोनों ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाएँगे, जो ह्रास का मूल है। राष्ट्र पर यही उत्तरदायित्व है कि सबल निर्बल पर अत्याचार न करे, अर्थात् शिक्षा तथा चिकित्सा को सुव्यवस्था हो और बेकारी न रहे।

बाल-मन्दिर के बिना शिक्षा अधूरी रहेगी और शुश्रूषा-आश्रम के बिना चिकित्सा अधूरी रहेगी, क्योंकि ये दोनों कार्य सेवक ही कर सकते हैं, नौकर नहीं। अतः यह कार्य धर्मप्रिय विद्वानों तथा पूँजीपतियों को अपने हाथ में ले लेना चाहिए। यह कार्य हाथ में आते ही साम्यवाद की आवश्यकता ही शेष न रहेगी और न पार्टीबन्दी की धूम मचेगी। संगठन भी अपने-आप निष्पक्षता-पूर्वक त्याग तथा सेवा के आधार पर हो जाएगा, जो विकास का मूल है।

प्रश्न—आपने तो सेवा करने वाले विद्वानों के द्वारा गवर्नमेण्ट के निर्वाचन की पद्धति बतलाई है। परन्तु आज तो कोई भी राष्ट्र तथा देश इस पद्धति को नहीं मानता। सभी जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा निर्वाचन की बात कहते हैं।

उत्तर—बाह्य दृष्टि से तो ऐसा ही देखने में आता है, किन्तु इने-गिने व्यक्ति प्रचार के द्वारा जनता को अपने पक्ष में लेकर जनता के बहाने अपने मन की बात करते हैं। इस चुनाव में सच्चाई नहीं होती। चुने हुए सदस्य कहने के लिए ही जनता के प्रतिनिधि होते हैं, वास्तव में वे जनता के नहीं होतें। इस्लाम के खतरे की बात कहकर मुसलमान जनता को भड़काया और अपने पक्ष में ले लिया; हिन्दू-धर्म के गीत गाकर हिन्दू जनता को भड़काया और अपने पक्ष में ले लिया तथा किसानों की बात कहकर किसानों को भड़काया और अपने पक्ष में ले लिया। इस प्रकार का अपने मन की बात, नाम जनता का ले लिया। इतना ही नहीं, सबसे बड़ा दोष इस चुनाव में यह आता है कि वह प्रतिनिधि कहकर पक्षपाती हो जाता है।

सेवा करने वाला व्यक्ति जनता का प्रतिनिधि तो स्वाभाविक ही बन जाता है। उसमें न तो पद का लालच होता है, न पक्षपात, न स्वार्थ। अतः वह उसी व्यक्ति को चुनेगा, जो वास्तव में सच्चा सेवक और ईमानदार होगा। आज तो पार्टी का आधार लेकर अयोग्य व्यक्ति भी पद पा जाते हैं। ये जनता के प्रतिनिधि बनकर पार्टी-लीडर की हाँ में हाँ करते रहते हैं। यह देखने में समाजवाद भले ही हो,

वास्तव में तो आदेशकवाद है। जिसने स्वयं सेवा न की हो, उसे शासकों के निर्वाचन का अधिकार दे देना प्राकृतिक विधान के विरुद्ध है।

यदि जनता स्वयं सच्चाई को जानने में समर्थ होती, तो शासकों के निर्वाचन की आवश्यकता ही क्या थी ? जनता तो अबोध बालक के समान होती है। जनता के द्वारा निर्वाचन होने पर तो, सौ मूर्ख निन्यानवे भले आदमियों को हरा सकते हैं। ऐसी गवर्नमेण्ट कभी सत्य की खोज करने वाली नहीं हो सकती।

प्राकृतिक विधान के अनुसार सेवा करने वालों का चुना हुआ राष्ट्र हो, और वीतराग पुरुषों का बनाया हुआ विधान हो, तभी समाज में न्याय तथा शान्ति की स्थापना हो सकती है।

सन्त-वाणी

[१]

साधारण प्राणी साधन को जीवन का अङ्ग बनाते हैं और विचारशील पुरुष जीवन को साधन बनाते हैं। गहराई से देखिये, वर्तमान जीवन वास्तविक नित्य जीवन का एक साधन मात्र है, परन्तु जब प्राणी प्रमादवश, वर्तमान जीवन को ही जीवन मान लेता है, तब अनेक साधनों से जीवन को सुशोभित करने का उसी प्रकार प्रयत्न करता है, जिस प्रकार विषयी अपने को शरीर समझकर अनेक अलंकारों से शरीर को सुशोभित करने का प्रयत्न करता है। जैसे प्रत्येक अलंकार सर्वदा शरीर से भिन्न रहता है, वैसे ही प्रत्येक साधन जीवन से सदा भिन्न रहता है।

जो वस्तु जीवन से भिन्न रहती है, वह जवन का परिवर्तन नहीं कर पाती, बल्कि उसका एक शृङ्गारमात्र रहती है। शृङ्गार की आवश्यकता उसको होती है जिसको अपनी सुन्दरता पर विश्वास नहीं होता। अतः जोवन को साधन बनाना अनिवार्य है।

जब तक जीवन साधन नहीं हो पाता, तब तक वियुक्त होने वाली वस्तुओं की आवश्यकता होती है, क्योंकि स्वयं

सुन्दर होने पर अलंकारों की आवश्यकता नहीं रहती। पूर्ण अपनत्व का भाव सर्वोत्तम सुन्दरता है, जिसको देख, प्रेमपात्र स्वयं मोहित हो जाते हैं।

[२]

जब प्रेमी वह कर डालता है, जो करना चाहिए, तब प्रेमपात्र क्या वह नहीं कर सकते, जो उनको करना चाहिए ?

प्रेमी तथा प्रेमपात्र में केवल यही अन्तर है कि प्रेमी बेचारा कभी प्रमादवश कर्तव्य से कदाचित् वंचित भी हो जाय, परन्तु प्रेमपात्र तो सर्वदा वही करते हैं, जो करना चाहिए। जिन प्रेमियों को प्रेमपात्र के कर्तव्य का विशेष ध्यान रहता है, उन बेचारों ने वास्तव में प्रेमपात्र की महिमा को समझ नहीं पाया, अथवा यों कहो कि उन प्रेमियों का अभी पूर्ण अपनत्व नहीं हुआ। अपनत्व हो जाने पर कहने-सुनने की बात शेष नहीं रहती, अर्थात् उनके प्रभाव को जान लेने पर कुछ भी कहना शेष नहीं रहता।

अपनी दृष्टि से सच्चाई के साथ यह देखना चाहिए कि हम जो कुछ कर सकते हैं, उसे कर दिया या नहीं। यदि कर दिया, तो कुछ भी करना शेष नहीं है। यदि नहीं किया, तो फिर कृपा के अधिकारी नहीं हैं।

बिना कृपा किये कृपासिन्धु किसी प्रकार नहीं रह सकते। हाँ, यह अवश्य है कि कृपासिन्धु की कृपा का अनुभव कृपापात्र को होता है। जो प्रेमी अपनी सारी शक्ति लगाकर क्रिया को भाव में विलीन कर शिशु की भाँति प्रेमपात्र की कृपा की

प्रतीक्षा करता है, वह प्रेमपात्र का पवित्र प्रेम अवश्य पाता है। यह निस्सन्देह सत्य है।

[३]

इन नेत्रों को अनन्त सौन्दर्य क्यों नहीं दिखाई देता ? इसलिए कि ये सीमित सौन्दर्य को देखने से सन्तुष्ट हो जाते हैं।

इस मन को अनन्त रस क्यों नहीं मिलता ? इसलिए कि यह सीमित रस से सन्तुष्ट हो जाता है।

इस बुद्धि को अनन्त ज्ञान, क्यों नहीं मिलता ? इसलिए कि यह सीमित ज्ञान से सन्तुष्ट हो जाती है।

इस अहंता को अनन्त जीवन क्यों नहीं मिलता ? इसलिए कि यह सीमित जीवन से सन्तुष्ट हो जाती है।

बच्चे को माँ उतना ही खिलाती है, जितनी बच्चे को भूख होती है। हमारी माँ, जो अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न है, हमको अनन्त रस का आस्वादन इसीलिए नहीं करा पाती कि हमने अपनी भूख कम कर दी है। माँ करुणा करके निरन्तर धाराप्रवाह हमारे सीमित रसों को छिन्न-भिन्न करती रहती है, अर्थात् हमको अनन्त रस के लिए सीमित रसों के त्याग का पाठ पढ़ाती रहती है।

जिस प्रकार भाषा में अर्थ दिखाई देता है, उसी प्रकार प्रेमी को सर्वदा प्रेमपात्र दिखाई देता है। अर्थ से तदाकार होने पर ज्ञाता की सत्ता भिन्न नहीं रहती, उसी प्रकार प्रेम-पात्र से तदाकार होने पर प्रेमी की सत्ता भिन्न नहीं रहती, क्योंकि ज्ञाता और अर्थ की तथा प्रेमी और प्रेमपात्र की जातीय एकता है।

[४]

जब प्राणी गुणों का उपभोग करने लगता है, तब गुणों का विकास रुक जाता है, क्योंकि वह उपभोग काल में उपार्जन नहीं कर सकता। यद्यपि अनित्य जीवन में उपभाग के लिए कोई भी स्थान नहीं है, क्योंकि प्राणी को स्वाभाविक आवश्यकता नित्य जीवन की है, परन्तु बेचारा प्रमादवश उपार्जन करने की शक्तियों को उपभोग में लगा देता है। गुण तब तक मालूम होते हैं, जब तक वे गुणी का जीवन नहीं होते, क्योंकि जिसकी एकता अहंता से हो जाती है, वह प्रतीत नहीं होता।

जब जीवन में पूर्ण निर्दोषता आ जाती है, तब दोष की उत्पत्ति नहीं होती और गुण प्रतीत नहीं होते। किसी बुराई का न करना कोई विशेषता नहीं है, विशेषता तो यह है कि बुराई उत्पन्न ही न हो। संकल्प के बल से बुराई रोक देना करने की अपेक्षा श्रेष्ठ अवश्य है, किन्तु निर्दोषता आने पर तो रोकने का प्रश्न ही शेष नहीं रहता, क्योंकि फिर बुराई उत्पन्न ही नहीं होती।

[५]

जो विभक्त नहीं, वही भक्त है। भक्त तो निरन्तर सद्भाव-पूर्वक प्रेमपात्र का होकर ही रहता है। जब भक्त सब प्रकार से उनका हो जाता है, तब उसकी सत्ता भक्ति बनकर अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न भगवान् का रसास्वादन करती है।

भक्ति से भिन्न भक्त की कुछ भी सत्ता शेष नहीं रहती। भक्ति के आते ही निर्वासना स्वाभाविक आ जाती है। निर्वासना होते ही जीवन निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि

अनेक अलौकिक रसों से युक्त हो जाता है। अपनी मानी हुई सीमित शक्तियों को उसी प्रकार समर्पित कर देना चाहिए, जिस प्रकार मिट्टी अपने आप को कुम्हार के समर्पित कर देती है, क्योंकि ऐसा करने पर प्राणी भक्त हो सकता है।

[६]

जिसके परिवर्तन की रुचि है, वह हमारी आवश्यकता नहीं हो सकती। हमारी आवश्यकता वही हो सकती है, जिसकी पूर्ति वर्तमान में हो सके। भविष्य की आशा उस वस्तु के लिए होती है, जो किसी प्रकार के संगठन से मिलती है। हमको अपनी आवश्यकता के लिए संगठन की अपेक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि संगठन किसी-न-किसी परिस्थिति के स्वरूप में ही रहता है। परिस्थिति का सदुपयोग हमें परिस्थिति से असंग करने में समर्थ है, क्योंकि वह हमको विश्व के ऋण से मुक्त कर देता है।

जब हम परिस्थितियों से असंग हो जाते हैं, तब हमारा प्रेमपात्र हमारे सामने अपने-आप आ जाता है, क्योंकि परिस्थितियों के दासत्व ने हमको नित्य जीवन से विमुख कर दिया है।

आवश्यकता की अपूर्ति असह्य होती है और इच्छा की अपूर्ति सहन होती रहती है; आवश्यकता वर्तमान से सम्बन्ध रखती है, इच्छा भविष्य से; आवश्यकता की उत्पत्ति अहंता से होती है और इच्छा की उत्पत्ति आसक्ति से होती है। आवश्यकता की पूर्ति होती है, इच्छा की निवृत्ति होती है। आवश्यकता की पूर्ति एवं इच्छाओं की निवृत्ति होने पर नित्य जीवन का अनुभव होता है।

जिसकी प्रवृत्ति प्रिय हो और अन्त में कुछ न लिले, वह इच्छा है; जिसका मिलन प्रिय हो, और प्रवृत्ति कुछ न हो, वह आवश्यकता है।

प्रवृत्ति—उसकी ओर दौड़ना, जो न मिले।

आवश्यकता—जो अपने-आप आ जाय।

प्रमाद—'नहीं' को 'नहीं' न मानना प्रमाद है; 'है' को 'है' न मानना भी प्रमाद है; साधन को साध्य मान लेना प्रमाद है; क्रियामात्र को जीवन मान लेना प्रमाद है; अनुभूति का निरादर प्रमाद है।

सर्वप्रिय प्रवृत्ति संसार का सौंदर्य है; सर्व प्रवृत्तियों की निवृत्ति संसार का अन्त है; निवृत्ति की निवृत्ति ईश्वरवाद का आरम्भ है।

उपभोग कर्म से, भगवान् सद्भाव से और ज्ञान त्याग से मिलता है। दूसरों के काम आना कर्म, आत्मभाव का सद्भाव और वासना शून्यता त्याग है।

प्रवृत्ति की रुचि कर्म, प्रवृत्ति से अरुचि वैराग्य, प्रवृत्ति के अर्थ का परिवर्तन हो जाना अर्थात् प्रवृत्ति का पूजन बन जाना भक्ति, प्रवृत्ति का अभाव तत्त्वज्ञान और अभाव का अभाव विज्ञान है।

जो किसी का नहीं तथा जिसका कोई नहीं, उसके भगवान् अपने आप हो जाते है, क्योंकि वे अनाथ के नाथ हैं। जो किसी का नहीं तथा जिसका कोई नहीं, उसे किसी का चिंतन नहीं होता। जिसे किसी का चिन्तन नहीं होता, उसकी सारी शक्ति भगवान् में विलीन हो जाती है। भगवान में विलीन हुई शक्ति

अनन्त एवं नित्य हो जाती है, क्योंकि यह उनका स्वरूप है।

जो करना पड़ता है, उसे संयम के साथ करो; जो करना है, उसको अहंता से करो; जो आवश्यक है उसे भूलो मत।

क्या करना पड़ता है ?—संयोग।

क्या करना है ?—वियोग।

क्या आवश्यक है ?—नित्य जीवन, अनन्त रस।

भक्त पर सुख-दुःख तथा चिन्ता आदि का शासन नहीं होता।

अपनत्व का बल सभी बलों से श्रेष्ठ है; वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग सर्वोत्कृष्ट साधन है; अपने-आप आए हुए सुख को बाँट देना और अपने आप आए हुए दुःख से त्याग की शिक्षा लेना परम पुरुषार्थ है।

उसकी खोज करो, जिनके बिना तुम किसी प्रकार रह नहीं सकते।

निश्चिन्तता अर्थात् निर्भयता परम बल है।

[७]

प्रश्न—भगवान् के होकर रहने का क्या अर्थ है ?

उत्तर–गहराई से देखिए, प्रत्येक प्राणी किसी न किसी का होकर ही रहता है। अन्तर केवल इतना है कि कोई विभक्त होकर अनेक का रहता है और कोई भक्त होकर एक का ही। जिसको भगवान् का होकर रहना है, उसके लिए भक्त होना अनिवार्य है। यह नियम है कि जो जिसका भक्त हो जाता है

उसको उसके बिना कल नहीं पड़ती। उसमें स्वाभाविक व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है।

व्याकुलता वह अग्नि है, जो अनेकों प्रकार के दोषों को भस्मीभूत कर डालती है। पूर्ण निर्दोषता आ जाने पर व्याकुलता नित्य-जीवन, नित्य-रस और नित्य आनन्द में विलीन हो जाती है। फिर वियोग का भय एवं संयोग की आसक्ति शेष नहीं रहती। अवस्था-भेद मिटकर नित्य जागृति अपने आप आ जाती है, एवं भक्त अपने प्रेमपात्र को अपने से भिन्न नहीं पाता।

'मैं भगवान् का हूँ'–यह वाक्य कथन करने में जितना काल लगता है, उससे भी कम समय सद्भावपूर्वक उनका होने में लगता है, क्योंकि प्राणी शब्द का तो तब उच्चारण कर पाता है, जब भाव के अनुरूप संकल्प करता है और संकल्प के अनुरूप परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी आदि वाणियों के द्वारा चेष्टा करता है।

होने के लिए तो सङ्कल्प तथा उच्चारण आदि चेष्टा की आवश्यकता नहीं है, केवल सद्भावपूर्वक भाव की स्वीकृति की आवश्यकता है। स्वीकृति, स्वीकृति-कर्ता अपने आप कर सकता है; अर्थात् स्वीकृति करने में प्राणी स्वतन्त्र है। जिसके करने में प्राणी स्वतन्त्र है, उसका करना कठिन नहीं है। कठिन यही है कि साधारण प्राणियों के हृदय में अत्यन्त सुगमता का आदर नहीं है, इसी कारण सुगमता दुर्गम हो गई है।

जिस प्रकार पृथ्वी में पड़ा हुआ बीज यथासमय अपने-आप उपजता है, उसी प्रकार सद्भावपूर्वक की हुई स्वीकृति के अनुरूप कर्ता में करने की शक्ति अपने आप उत्पन्न होती है।

बस, करना यही है कि अपनी की हुई स्वीकृति सुरक्षित बनी रहे। 'स्वीकृति' भाव है; अतः वर्तमान में ही हो सकती है। स्वीकृति अहंभाव से ही उत्पन्न होती है। अतः इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि उसका विरोध नहीं कर पाते, क्योंकि ये सब तो अहंभाव के यन्त्र हैं।

'मैं भगवान् का हूँ'—यह स्वीकृति होते ही सहज स्नेह उत्पन्न होकर प्रेमी को प्रेम-पात्र से अभिन्न कर देता है तथा कर्ता की की हुई स्वीकृति को भी सार्थक बना देता है, क्योंकि स्वीकृति के अनुरूप जीवन होने पर स्वीकृति सिद्ध हो जाती है।

सुख-दुःख आने-जाने वाली परिस्थितियाँ हैं। जो प्राणी सुख में निरभिमानता एवं उदारता को अपनाता है, वह अवश्य उन्नति कर लेता है। अर्थात् जीवन के जिस अंश में सुख हो, उसे दूसरों को बाँटकर हृदय को उदार बना लेना चाहिए और अभिमान को त्याग कर मनुष्य हो जाना चाहिए।

दुःख आने पर आत्म-विश्वास तथा त्याग को अपनाना चाहिए। आत्म-विश्वास का अर्थ है-'हार स्वीकार न करना', अर्थात् दुःख से न डरना। त्याग का अर्थ है—अनुकूलता तथा प्रतिकूलता पर विश्वास न करना एवं सभी परिस्थितियों से असङ्ग हो जाना।

जो प्राणी परिस्थितियों से असङ्ग हो जाता है, उसकी प्रत्येक परिस्थिति लीलावत् प्राकृतिक नियम के अनुसार अपने आप होती है, अर्थात् परिस्थिति में जीवन-भाव नहीं रहता। तब बेचारी परिस्थितियाँ स्वतः ही निर्जीव हो जाती हैं। परिस्थितियों के निर्जीव होते ही निर्वासना अपने-आप आ

जाती है, जो उन्नति का मूल है। निर्वासना होने पर स्वीकृति से उत्पन्न होने वाली सत्ता मिट जाती है और आनन्दघन भगवान् से अभिन्नता प्राप्त होती है, जो वास्तव में 'जीवन' है।

संकल्प-पूर्ति का रस जीवन में सच्ची आस्तिकता नहीं आने देता। अतः विचारशील प्राणी को संकल्प-निवृत्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। संकल्प-पूर्ति में प्राणी सर्वदा परतन्त्र है, क्योंकि वह कर्म से होती है और कर्म संगठन के बिना नहीं हो सकता। हाँ, यह अवश्य है कि अशुभ संकल्प की अपेक्षा शुभ संकल्प अधिक आदरणीय है, किन्तु निःसंकल्पता के सामने शुभ संकल्प कुछ भी मूल्य नहीं रखता।

जिस प्रकार पृथ्वी में पड़ा हुआ बीज यथासमय प्राकृतिक नियम के अनुसार अपने-आप उपजकर विलीन हो जाता है, उसी प्रकार निःसंकल्प होने पर आवश्यक संकल्प अपने आप पूर्ण होकर विलीन हो जाता है। अतः संकल्प-कर्ता को चाहिए कि वह संकल्प से अपना मूल्य अधिक कर ले।

उसकी ओर मत देखो, जिसको आपकी आवश्यकता नहीं है। भीतर-बाहर से अकेले रहने का स्वभाव बनाओ। ऐसा करने से आपको वह आनन्द मिल जाएगा, जो आपके बिना नहीं रह सकता, अथवा यों कहो, 'जो आपकी आवश्यता है।'

[८]

जो उन्हें नहीं भूलता, वे उसे नहीं भूलते। गहराई से देखिए, किसी का होना कुछ अर्थ नहीं रखता, जब तक कि उससे अपना सम्बन्ध न हो और किसी से भी सम्बन्ध उस समय तक नहीं होता, जब तक कि उसकी आवश्यकता न हो। स्वाभाविक आवश्यकता (Natural desire) वही है, जो

सभी अस्वाभाविक इच्छाओं (Unnatural desires) को खा लेती है। उसी आवश्यकता को आपने अखण्ड आनन्द की इच्छा के नाम से लिखा है।

अखण्ड आनन्द इसी जीवन में मिल सकता है, परन्तु मिलता तब है, जब उसके बिना किसी भी प्रकार चैन न हो, अर्थात् सच्ची व्याकुलता ही आनन्द तक पहुँचाने में समर्थ है, किसी और मास्टर की आवश्यकता नहीं है।

किसी भी चीज को केवल झूठा समझ लेना ही, उससे छुट-कारा पा लेने के लिए काफी नहीं है, क्योंकि झूठी वस्तु में भी आसक्ति (Attachment) हो जाती है। देखिये, सिनेमा के देखने वाले उसको बिल्कुल झूठा जानते हैं, परन्तु फिर भी उससे आसक्ति हो जाती है।

भगवान् की ओर मन लगाकर काम करना उतना अच्छा नहीं है, जितना अच्छा काम को भगवान् का समझकर करना है। जिस समय जिस काम को करना हो, उस समय उसी में अपने को पूरा लगा देना चाहिए। ऐसा करने से काम के अन्त में आपका मन अपने आप काम को छोड़ देगा और उसके लिए व्याकुल हो उठेगा कि जिसका काम किया था। काम करते हुए भगवान् की ओर मन लगाने में न तो मन काम में लगेगा और न भगवान् में हो, यानी दोनों ही बातें अधूरी रहेंगी।

प्यारे, जो काम सामने हो और जिसके बिना किए नहीं रह सकते हो, यानी जिसका करना जरूरी हो, उसको बड़ी पवित्रतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर कर डालो। काम को अपनी ओर से बुलाओ मत। जो शक्ति काम के बुलाने में बेकार खर्च

होती रहती है, उसको इकट्ठा होने दो। वही शक्ति आपको अखण्ड आनन्द से मिला देगी।

भगवान् क्या है ? यह सवाल तभी हल हो सकता है, जब भगवान् मिल जायँ। वैसे तो भगवान् के विषय में यह कहना काफी है कि उसके विना हम अपूर्ण हैं। अपूर्ण को पूर्ण की अभिलाषा होती है। इससे यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि हमारी जो स्वाभाविक इच्छा है, वही भगवान् का स्वरूप है और हमारी जो अस्वाभाविक इच्छा है, वही संसार का स्वरूप है। अस्वाभाविक इच्छा होने पर हम संसार की ओर दौड़ते हैं, परन्तु पकड़ नहीं पाते। संसार का मीठापन यही है कि दौड़ते-दौड़ते जब थक जाते हैं, तब आराम पाते हैं, अर्थात् थकावट ही संसार का सुख है।

प्यारे, प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में किसी को भी शक्तिहीनता के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। जो प्राणी अपने अनुभव से यह जान लेता है, वह फिर प्रवृत्ति की ओर नहीं दौड़ता, बल्कि अपने आप आने वाली निवृत्ति को अपनाकर अपने प्रेमपात्र के लिए व्याकुल हो जाता है। जीवन की सभी कमजोरियाँ व्याकुलता की अग्नि में अपने-आप जल जाती हैं।

जब स्वाभाविक इच्छा (Natural desire) अस्वाभाविक इच्छा (Unnatural desires) को खा लेती है, तब व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है। इसलिए स्वाभाविक इच्छा को सबल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। ज्यों-ज्यों वह सबल होती जाएगी, त्यों-त्यों अस्वाभाविक इच्छा गलती जाएगी। उसके बिल्कुल गल जाने पर स्वाभाविक इच्छा भगवान् की कृपा से अपने आप पूरी हो जाएगी।

प्यारे, आनन्द आपकी निरन्तर प्रतीक्षा कर रहा है। एक वार सुख के रस से विमुख होकर उसकी ओर देखिए। आपके देखते ही, वह आपको अवश्य अपना लेगा। आनन्द से निराश होना वहुत वड़ी भूल है। आनन्द मिल सकता है ! मिल सकता है !! मिल सकता है !!! संसार को कोई भी किसी भी प्रकार पकड़ नहीं सकता। उसकी ओर दौड़ने में थक जाने के सिवा कुछ नहीं मिलता।

जीवन की प्रत्येक घटना कुछ-न-कुछ अर्थ रखती है। विचारशील अर्थ को अपनाते हैं, घटना को भूल जाते हैं और जो विचार का उपयोग नहीं करते, वे घटना का चिन्तन करते हैं, अर्थ को भूल जाते हैं। सत्य की खोज करने वाले प्राणी प्रतिकूलता आ जाने के भय से और अनुकूलता चले जाने के भय से दुःखी होते हैं, अर्थात् विचारशील को अनुकूलता का सुख या प्रतिकूलता का दुःख दोनों ही दुःखरूप हो जाते हैं। सुख आने पर दुःख को भूल जाना, यही वास्तव में भूल जाना है।

आनन्द आने पर दुःख मिटता है, सुख से तो केवल दवता है। आनन्द आवश्यकता (Natural desire) की पूर्ति और इच्छाओं (Artificial desires) की निवृत्ति होने पर आता है और फिर नहीं जाता। सुख प्राणी को तब मालूम होता है, जब वह निरन्तर होने वाले परिवर्तन को नहीं देखता तथा अपना मूल्य घटा लेता है, एवं जो उपस्थित है, उससे उत्कृष्ट परिस्थिति को देखना बंद कर देता है। वास्तव में तो परिवर्तन का रोग निरन्तर है।

प्रत्येक प्रवृत्ति महान् रोग है, क्योंकि प्रवृत्ति के अन्त में निर्बलता प्राप्त होती है। परन्तु जिस प्रवृत्ति के करने में

स्वतन्त्रता हो और जिसका अन्त निवृत्ति में हो, वह प्रवृत्ति करने योग्य है। जिस प्रवृत्ति के अन्त में प्रवृत्ति ही शेष रहती है, वह त्याग करने योग्य है, क्योंकि प्राकृतिक विधान के अनुरूप प्रत्येक प्रवृत्ति निवृत्ति का साधनमात्र है। यदि प्रवृत्ति जीवन होती, तो उसका परिवर्तन स्वाभाविक नहीं होता। प्रवृत्ति तो केवल प्रवृत्ति की परतन्त्रता सिखाने के लिए आवश्यक है।

परतन्त्रता का दुःख स्वतन्त्रता की आवश्यकता उत्पन्न कर देता है। स्वतन्त्रता की आवश्यकता सबल होने पर उसके सभी साधन अपने आप उपस्थित हो जाते हैं; क्योंकि अनन्त शक्ति दीन नहीं है। जीवन की घटनाओं का पाठ स्वाभाविक इच्छा को जागृत कर देता है। अपनी अनुभूति का आदर करो। परतन्त्रता को जीवन मत समझो। सुख का बंधन दुःख से अधिक दुःख है। यदि हो सके तो सुख देकर दुःख खरीद लो, क्योंकि सुख बाँटने की वस्तु है, रखने की नहीं। जो प्राणी सुख को रखने का प्रयत्न करता है, उससे सुख छिन जाता है, मिलता कुछ नहीं। और जो प्राणी सुख बाँट देता है, उसको आनन्द मिल जाता है।

जो भुलाने पर भी नहीं भूलता, वह भगवान् है। प्राणी प्रमादवश परिवर्तनशील प्राणियों का प्यार स्वीकार करने लगता है और भगवान् को भूल जाता है। भगवान् करुणा कर उन वस्तुओं को छिपा देता है और अपने प्यार के योग्य बना देता है। हम आसक्तिवश उनके प्यार को स्वीकार नहीं करते। उनको बिना प्यार किये कल नहीं पड़ती; इसलिए वे हमारी आसक्तियुक्त वस्तुओं को निरन्तर बदलते रहते हैं।

यदि हम थोड़े-से-थोड़े काल के लिए भी अपने को खाली कर लें, तो उनका नित्य प्यार एवं नित्य रस अपने आप आने लगे। हम अनेक प्रकार की चिन्ताओं द्वारा उनके प्यार का आने से रोकते रहते हैं। बस, यही सबसे बड़ी भूल है। प्राणी प्यार नहीं कर सकता। प्यार करना तो भगवान् ही जानते हैं, क्योंकि प्यार वह कर सकता है, जो पूर्ण हो। प्राणी का तो यही अन्तिम प्रयत्न है कि वह अपने को उन्हें समर्पित कर दे।

स्वरूप का अर्थ व्यक्तित्व (Eternal personality) है, अथवा यों कहो कि जिससे आवश्यकता की पूर्ति होकर उत्पन्न नहीं होती और न जिससे भिन्नता रहती है। यदि काम का अन्त होने पर मन को नहीं दे सकते, तो मन को अत्यन्त प्रिय वस्तु में लगा दो। मन लगा देने की अपेक्षा मन देना सुलभ एवं हितकर है। परन्तु मन देने में लालच लगता है,तो मन को उसमें लगा दो, जो सबसे प्रिय हो। यदि आप अपनी योग्यता से प्रिय वस्तु नहीं ढूँढ़ पाते, तो सभी वस्तुओं से हटा लो। मन अपने आप प्रिय वस्तु को ढूँढ़ लेगा।

मन को बुरा मत समझो, बेईमान मत समझो, डाँटो मत, उससे प्रेमपूर्वक कह दो, 'प्यारे मन, अनेक को त्याग कर एक पर आ जाओ।' जब आप मन से प्रेमपूर्वक व्यवहार करने लगेंगे, तब वह प्रसन्न होकर आपको प्रसन्नता प्रदान करेगा। मन इसका भूखा है। बुद्धि उसको बहकाया करती है। आप बुद्धि से कह दीजिए कि,'वह मन को अनेक से एक पर लगादे', किन्तु वह 'एक' मन का चुना हुआ हो।

जब मन अधिक काल तक एक में लग जाएगा, तब या तो उसका त्याग कर देगा या उसमें विलीन हो जाएगा। यदि

आपको कोई स्थान न मिले, तो अपने में ही मन लगा दीजिए। 'अपने' का अर्थ शरीर मत समझना। प्रत्येक वस्तु उस प्यारे को प्रकाशित करने के लिए शार्टहैण्ड के चिह्न के समान है। जिस प्रकार भाषा में अर्थ दिखाई देता है, उसी प्रकार जिस प्रिय वस्तु में मन लग जाता है, उसी में प्रेमी को प्रेमपात्र दिखाई देता है। चिह्न अर्थ नहीं होता, अर्थ चिह्न नहीं होता।

मन बालक है। उसको प्रिय वस्तु देकर उसमें वह दिखाओ, जो तुम्हारी स्वाभाविक आवश्यकता है। चिह्न में भटक मत जाओ। यदि मन को अपने में अथवा किसी प्रिय वस्तु में नहीं लगा पाते, तो मन को अपनी आवश्यकता में विलीन कर दो। अर्थात् काम के अन्त में अपने प्रेमपात्र का उसी प्रकार स्मरण करो, जिस प्रकार प्यास लगने पर पानीका प्यासा पानी-पानी शब्द नहीं रटता, पानी के लिए व्याकुल होता है। पानी प्यासे के हृदय की पुकार होती है। अतः मन को अपने हृदय की पुकार में लगा दो। ज्यों-ज्यों हृदय की पुकार बढ़ती जाएगी, त्यों-त्यों मन निर्दोष होता जाएगा। असह्य पुकार होने पर प्रेमपात्र अपने आप मन को तथा आपको अपना लेंगे।

'उसका' अनन्त सौन्दर्य एवं नित्य आनन्द और रस इसलिए नहीं आता कि हम सीमित (Limited) परिवर्तनशील सौन्दर्य में अपने आपको बाँध देते हैं। प्यार नदी के समान है। वह अपने-आप उसी प्रकार अपने प्रेमपात्र तक पहुँचने में समर्थ है, जिस प्रकार नदी समुद्र में स्वतन्त्रतापूर्वक पहुँच जाती है। परन्तु यदि नदी को बाँधकर अनेकों छोटी-छोटी नहरों में बाँट दिया जाय, तो बेचारी छिन्न-भिन्न हो जाती है।

बस, यही दशा बेचारे उन प्राणियों की है कि जिन्होंने अपने प्यार को सीमित कर वस्तुओं में बाँध दिया है। नदी का निर्मल जल किसी गड्ढे में बँध जाने से अनेक विकार उत्पन्न करता है; उसी प्रकार जब हम अपने प्यार को शरीर में बाँध देते हैं, तो वह प्यार अनेक विकार उत्पन्न कर देता है। जिस प्रकार हिमालय से नदी का स्रोत धाराप्रवाह चलता ही रहता है, उसी प्रकार हमसे प्यार का स्रोत निरन्तर चलता ही रहता है।

हम सबसे बड़ी भूल यही करते हैं कि उस प्यार के स्रोत के सामने वस्तु, अवस्था आदि की अनेक छोटी-छोटी पहाड़ियाँ खड़ी कर देते हैं। हमारा प्रेमपात्र निरन्तर उन पहाड़ियों को हटाता रहता है। प्यार उनसे टकराता रहता है। प्यार का अधिकारी केवल प्रेमपात्र है। अतः हमको अपना प्यार सीमित नहीं करना चाहिए।

प्रत्येक कर्म को पवित्रतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर कर डालो। कर्म के अन्त में व्याकुलता अपने आप आ जाएगी। यदि व्याकुलता नहीं उत्पन्न होती, तो समझ लो कि अभी कर्म पूरी शक्ति लगाकर पवित्रतापूर्वक नहीं किया। पवित्रतापूर्वक किया हुआ प्रत्येक कर्म राम से मिला देता है। अथवा राम के लिए व्याकुलता उत्पन्न कर देता है।

प्रत्येक कर्म के ठीक हो जाने का अर्थ है कि कर्ता कर्म से छूट जाय। कर्ता को वही कर्म बाँध लेता है, जिसको कर्ता पवितत्रापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर नहीं करता। झुठाई से प्राणी तब छूट पाता है, जब सच्चाई की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है; अतः सत्य की अभिलाषा असत्य से सम्बन्ध-

विच्छेद कर देगी। केवल असत्य को असत्य समझने-मात्र से आसक्ति नहीं छूटती। सत्य की आवश्यकता होने पर असत्य अपने-आप छूट जाता है।

'पवित्रतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर कर्म करने का अर्थ गहराई से देखिए। जैसी आँख होती है वैसा ही देखती है, अर्थात् कर्ता के अनुरूप ही कर्म होता है। यदि कर्ता पवित्र है, तो अपने आप पवित्रतापूर्वक प्रत्येक कर्म होगा, क्योंकि पवित्र होने पर पवित्रता उत्पन्न होती है। साधारण प्राणी यह मानते हैं कि पवित्रता आने पर कर्ता पवित्र होगा। वास्तव में यह बात नहीं है। देखिए, सूर्य होने पर प्रकाश उत्पन्न होता है। प्रकाश आने पर सूर्य उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् प्रकाश सूर्य का कार्य है, प्रकाश का कार्य सूर्य नहीं है। अतः पवित्र होने पर ही पवित्रतापूर्वक कर्म हो सकता है।

पवित्र होने से पूर्व अपवित्रता का ज्ञान अनिवार्य है, क्योंकि जब तक दोष का ज्ञान नहीं होता, तब तक गुण का ज्ञान नहीं हो सकता। सभी दोष उसी समय तक जीवित रहते हैं, जब तक दोषी दोष को देख नहीं पाता; अथवा जब तक दोषी दोष को अपने में मिलाकर देखता है। अनन्त काल का दोष उसी क्षण में मिट जाता है, जिस काल में दोषी अपने को दोष से असङ्ग कर लेता है, अर्थात् दोष से सम्बन्ध विच्छेद कर लेने पर बेचारा दोष वर्तमान में ही आमूल नष्ट हो जाता है।

जब प्राणी उसकी ओर देखता है, जो उसकी ओर नहीं देखता, तब अनेक दोष अपने-आप आ जाते हैं। अर्थात् सभी अपवित्रताओं का मूल कारण यही है कि हम अपना मूल्य घटा लेते हैं तथा अपने में अभिमान की अग्नि उत्पन्न कर लेते हैं।

जो प्राणी परतन्त्रता की वेड़ियों में जकड़ा है एवं अभिमान की अग्नि में जलता है, वही अपवित्र है। इस अभागी अपवित्रता के आने पर अनेक दुःख निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं।

सबसे प्रथम परतन्त्रता की वेड़ियों को तोड़ दो, अर्थात् अपने पर अपने से भिन्न का शासन मत होने दो; अपने ही बल से अपने पर विजय प्राप्त कर लो। ऐसी कोई प्रवृत्ति मत करो, जो अपनी ओर से आपका स्वागत न करे। जो प्राणी अपने पर अपने से भिन्न का शासन स्वीकार नहीं करता, उसको भोग में योग, प्रवृत्ति में निवृत्ति, बन्धन में मुक्ति और दुःख में आनन्द दिखाई देता है।

ऐसा प्राणी मित्र के लिए मित्र, पुत्र के लिए पिता, पत्नी के लिए पति और शत्रु के लिए शत्रु सा दिखाई देता है। स्वयं कुछ नहीं होता, क्योंकि वह अपने लिए अपने प्रेमपात्र निजस्वरूप से भिन्न की ओर नहीं देखता, अथवा यों कहो कि ऐसा प्राणी प्रमाद से उत्पन्न होने वाली सभी स्वीकृतियों का का त्याग कर, अपने को खाली कर, अपने को अपने प्रेमपात्र के रहने योग्य वना लेता है अर्थात् उस आनन्दघन भगवान् का निवास स्थान हो जाता है, जो सब प्रकार से पूर्ण हैं।

अपने में-से उन सभी स्वीकृतियों को निकाल दो, जो सीमित एवं दोषयुक्त हैं। अहंभाव आनन्दघन भगवान् का निवास स्थान है और शरीर विश्व की वस्तु है। जब प्राणी अपने आपको भगवान् को और शरीर विश्व को दे डालता है, तब उसमें किसी प्रकार की अपवित्रता शेष नहीं रहती। अपवित्रता का नितान्त अन्त होने पर सभी कर्म अपने-आप पवित्रतापूर्वक पूरी शक्ति द्वारा होने लगते हैं। प्यारे, अच्छाई उत्पन्न होती है, सिखाई नहीं जाती।

आप धन्य हैं कि आपको संसार में वही दिखाई देता है, जो आप में है। दुःखी को जब सब ओर दुःख दिखाई देता है, तब वह दुःख का अन्त करने में समर्थ होता है। दुःख अग्नि के समान है और सुख लकड़ी है। दुःख की अग्नि इतनी प्रबल कर दो कि सुख का अन्त हो जाए। सुख का अन्त होते ही दुःख-रूपी अग्नि अपने-आप शान्त हो जाएगी और फिर कभी उत्पन्न न होगी। सुख का अन्त करने के लिए सुख क्या है, यह जान लेना आवश्यक है ।

सुख क्या है ? सुख सुखी को तब तक मालूम नहीं होता, (१) जब तक वह अपना मूल्य नहीं घटा लेता, (२) जब तक वह थक नहीं जाता और (३) जब तक वह परिवर्तन में अपरिवर्तन नहीं देखता। ये तीनों कारण प्रमाद से अर्थात् भूल से उत्पन्न होते हैं। भला, जो बेचारा भूल से उत्पन्न हुआ है, वह अन्त में भूल के अतिरिक्त और क्या दे सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं। देखिए, इसी कारण सुखी प्राणी भूला रहता है । दुःख उस भूल के निकालने के लिए उत्पन्न होता है। अतः दुःख, सुख की अपेक्षा कहीं आदरणीय है। आनन्दघन भगवान् तक पहुँचाने एवं पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करने में दुःख ही समर्थ है। दुःखरूप अग्नि सभी निर्बलताओं के मिटाने में समर्थ है। अतः मन से कह दीजिए, 'प्यारे मन, दुःख से डरो नहीं, बल्कि उसे अपनाओ ।'

जब तक हम अपने लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता का अनुभव करते हैं, तब तक किसी-न-किसी प्रकार की प्रवृत्ति बनी ही रहती है, अर्थात् संयोग की आवश्यकता ही प्रवृत्ति है।

प्रवृत्ति के विपरीत अर्थात् संयोग को वियोग में विलीन कर देना ही निवृत्ति है। प्रवृत्ति न रहने पर निवृत्ति अपने आप आ

जाती है। निवृत्ति आते ही आस्तिकता उत्पन्न होती है, जो स्वतन्त्रता का मूल है।

विचारशील की अनेक प्रवृत्तियाँ एक ही प्रवृत्ति में विलीन होती है। जब अनेक प्रवृत्तियाँ एक ही प्रवृत्ति में विलीन होने लगती हैं, तब अस्वाभाविक इच्छाएँ स्वाभाविक आवश्यकता में बदल जाती हैं, जो उन्नति का मूल है। जब अनेक इच्छाएँ एक ही आवश्यकता में विलीन हो जाती हैं, तब आवश्यकता-पूर्ति की शक्ति अपने आप आ जाती है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी कल्पतरु के नीचे निवास करता है।

प्यारे, यह भली प्रकार समझ लो कि अनन्त शक्ति कंगाल नहीं है। प्यारे, मानव-जीवन में गुलामी के लिए कोई स्थान ही नहीं है और न अभिमान की आवश्यकता है। अभिमान तथा गुलामी से रहित एकता के लिए जीवन मिला है।

जब हमारी सारी प्रवृत्तियों को निवृत्ति खा लेती है, तब विश्व तथा विश्वनाथ दोनों से एकता अपने आप हो जाती है।

निवृत्ति संसार रूपी नदी के चढ़ाव की ओर ले जाती है, अर्थात् संसार के कारण का ज्ञान कराकर संसार से ऊपर उठा देती है; क्योंकि निवृत्ति द्वारा संसार का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। प्रवृत्ति नदी के बहाव की ओर ले जाकर संसार-सागर में मिला देती है, अर्थात् प्रवृत्ति संसार में ही चक्कर लगाती है।

प्रथम स्वार्थयुक्त प्रवृत्ति को सर्वप्रिय प्रवृत्ति में बदल दो। ऐसा करने से संसार का वास्तविक रस आ जाएगा। बेचारा संसार स्वयं नित्य रस की खोज में है। ऐसे प्राणी को नित्य रस या आत्मिक रस की खोज हो जाएगी, जिसकी पूर्ति निवृत्ति द्वारा ही हो सकती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति जब

निवृत्ति में विलीन हो जाती है, तब वह परमप्रिय निवृत्ति आनन्दघन अनन्त से अभिन्न कर देती है।

गहराई से देखिए, निवृत्ति के बिना पुनः प्रवृत्ति की भी शक्ति नहीं आती, क्योंकि निवृत्ति से ही प्रवृत्ति की शक्ति मिलती है। कोई भी प्राणी तब तक बोल नहीं सकता, जब तक बोलने के पश्चात् चुप न हो जाय, क्योंकि चुप होने से ही दोबारा शब्द बनता है। कोई भी पथिक तब तक चल ही नहीं सकता, जब तक पाँव उठाकर रख न ले। हाँ, यह अवश्य है कि थोड़ी देर का चुप अधिक देर बोलने देता है और थोड़ी देर का पैर रखना अधिक देर चलने की क्रिया करता है अर्थात् स्थिरता से ही क्रिया की शक्ति उत्पन्न होती है।

ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो निवृत्ति से न आ जाय और ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं है, जिससे शक्तियों का ह्रास न हो अर्थात् निवृत्ति से शक्तिसंचय और प्रवृति से शक्ति का ह्रास होता है। निवृत्ति प्राकृतिक नियम (Natural law) है, इसलिए अपने-आप आती है, प्रवृत्ति राग (Attachment) से उत्पन्न होती है; इसलिए प्रयत्न से आती है और अपने आप चली जाती है। नित्य जीवन के लिए निवृत्ति को अपना लेना परम अनिवार्य है।

[६]

प्रश्न--कृपया भगवान् के अखण्ड स्वरूप और एकरसता का वर्णन कीजिए।

उत्तर--श्री भगवान् के अखण्ड स्वरूप और एकरसता का वर्णन भला, खण्डवाली वाणी कैसे कर सकती है तथा खण्ड-वाले श्रवण उसे कैसे सुन सकते हैं? भगवान् के स्वरूप का

वर्णन करने में भगवान् भी असमर्थ हो जाएँगे, क्योंकि वर्णन करने के साधन भगवान् स्वयं अपने में से ही उत्पन्न करेंगे। यह अखण्ड सत्य है कि जिससे जो चीज उत्पन्न होगी, उसकी अपेक्षा वह सीमित होगी। उस सीमित साधन से असीम का वर्णन कैसे होगा ?

जिसके सामने अनेक खण्ड उपस्थित हैं, वही अखण्ड है और जो अखण्ड है, वही एकरस है। जिससे अनेक रस उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं, वही एकरस है। जिस रस के आने पर सभी रस नीरस हो जाते हैं, वही एकरस है। जिससे सभी रस सत्ता पाते हैं, वही एकरस है। जिसका किसी भी प्रकार त्याग नहीं हो सकता, वही अखंड एकरस है। जिसके विना सभी अपूर्ण हैं, वही अखंड है। खंड होकर अर्थात् अखंड से भिन्न होकर कोई अखण्ड को नहीं जान सकता। खण्ड से मिल कर खण्ड को नहीं जान सकता।

अखण्ड का ज्ञान अखण्ड होने पर और खण्ड का ज्ञान खण्ड से भिन्न होने पर सम्भव है, और किसी प्रकार नहीं। जो प्राणी अखण्ड से भिन्न होकर अखण्ड को जानने का प्रयत्न करता है, वह केवल बुद्धि का व्यायाम करता है। जिसको खण्ड का ज्ञान होता है, उसी को अखण्ड का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि अखण्ड का ज्ञान होते ही खण्ड अखण्ड में विलीन हो जाता है और एक अखण्ड शेष रहता है, अर्थात् सब कुछ विलीन होने पर जो शेष रहता है, वही अखण्ड है। अखण्ड 'है' को और खण्ड 'नहीं' को कहा जाता है। 'नहीं' का ज्ञान होते ही 'नहीं' निवृत्त हो जाता है। और 'है' का ज्ञान होते ही 'है' से एकता हो जाती है। एकता होने पर वर्णन नहीं हो सकता।

विचार-दृष्टि से देखिए, आँख ने आँख को कभी नहीं देखा। भक्त होकर भगवान् का वर्णन भक्ति के स्वरूप में प्रकट होता है, अर्थात् 'भक्ति' भगवान् के स्वरूप का वर्णन है, जो सिखाई नहीं जा सकती, जिसका कथन नहीं हो सकता। भक्त होने पर अपने आप जो भक्ति उत्पन्न होती है, वही भगवत्स्वरूप का वर्णन है।

श्रीभगवान् तो सर्वकाल में अखण्ड ही हैं, खण्ड के स्वरूप में प्राकट्य होने पर भी जो अखण्ड ही रहते हैं, वही भगवान् हैं। न मालूम कब तक आप लोग वाणी और कान को अपना बना-बनाकर जीवित रखेंगे! भगवान् का वर्णन करते ही वाणी आपकी नहीं रहेगी और श्रवण करते ही श्रवण आपके नहीं रहेंगे। जब ये आपके नहीं रहेंगे, तब न श्रवण रहेंगे, न वाणी रहेगी। ये सब बेचारे इसलिए जीविति हैं कि इन्होंने अभी वह नहीं किया, जो इन्हें करना चाहिए। यह अखण्ड नियम है कि कार्य समाप्त होने पर कर्ता शेष नहीं रहता।

अब आप इन बेचारे श्रवण, वाणी आदि पर कृपा कीजिए और इन्हें वह करने दीजिए, जिससे ये अपना कार्य समाप्त करके लक्ष्य को प्राप्त हों। आप अपनी आसक्ति की पूर्ति के लिए कब तक इनको इनके काम से वञ्चित रखेंगे? जब प्राणी इन्द्रिय आदि यन्त्रों से रागयुक्त कार्य नहीं लेता, तब वे बेचारे अपने आप भगवान् के अखण्ड स्वरूप का वर्णन कर कृतकृत्य हो जाते हैं। वाणी और श्रवण सदा ही समीप रहते हैं, क्योंकि बोलने पर सुनना और सुनने पर बोलना होता ही रहता है।

आप यदि भगवान् के अखण्ड स्वरूप का वर्णन करना तथा उसे सुनना चाहते हैं, तो वाणी, श्रवण आदि को अपने खण्ड स्वरूप के वर्णन में न लगाइए। जब आप इनको अपने काम से खाली कर देंगे, तब सच मानिए, ये आपको श्रीभगवान् के स्वरूप का वर्णन करके अपने आप श्रवण कराएँगे, तव आप सुनिएगा। श्रीभगवान् के स्वरूप का वर्णन भगवान् के आने पर ही हो सकता है, वियोग में नहीं। वियोग काल में तो भक्त के हृदय में भगवान् के प्रेम की प्रतीक्षा की अग्नि प्रज्वलित रहती है। उस विरहाग्नि से तपी हुई वाणी आदि सभी भगवान् की सत्ता से ही सत्ता पाकर भगवान् के अखण्ड स्वरूप का वर्णन करेंगे, तव आप सुनिएगा। मन, इन्द्रिय आदि सभी यन्त्र उसी का वर्णन करते हैं, जिसका वर्णन आप सुनना पसंद करते हैं। आप श्रीभगवान् से भिन्न और किसी का वर्णन सुनना पसंद मत कीजिए। तब वे आपको स्वयं श्री भगवान् का ही वर्णन सुनाएँगे।

साधारण प्राणी भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाओं के लेप चढ़ा-चढ़ा कर स्वाभाविक प्रेमपात्र की विरहाग्नि को प्रज्वलित नहीं होने देते। वे भगवान् के बहाने से क्रियाजन्य रस की आसक्ति की पूर्ति करते रहते हैं। भगवान् के होकर, 'भगवान् का स्वरूप क्या है?' यह प्रश्न क्या अर्थ रखता है? गहराई से देखिए, प्यास ने कभी नहीं पूछा, 'पानी क्या है?' भूख ने किसी से नहीं पूछा, 'भोजन क्या है?' पानी पाकर प्यास तृप्त हो गई, भोजन पाकर भूख तृप्त हो गई। तृप्त होने पर पानी और प्यास की भिन्नता तथा भूख और भोजन की भिन्नता शेष नहीं रहती।

भगवान् का स्वरूप क्या है ? यह प्रश्न उसी प्राणी का हो सकता है, जिसने सद्भावपूर्वक भगवान् का होकर रहने का संकल्प नहीं किया। अर्थात् जो भगवान् का होकर नहीं रहता वही यह प्रश्न कर सकता है। इसका उत्तर यही है कि भगवान् का अखण्ड एकरस स्वरूप वही है, जिसके बिना तुम को अपनी अपूर्णता का अनुभव होता है, क्योंकि न्यूनता की दशा में जो आवश्यकता होती है, वही भगवान् का अखण्ड स्वरूप है। जिस प्रकार विषयी की जो इच्छा होती है, वही विषय की सत्ता होती है, अर्थात् विषयी की इच्छा से भिन्न विषय और कुछ नहीं। उसी प्रकार प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता से से भिन्न श्रीभगवान् की सत्ता और कुछ नहीं। विषय-इच्छा का जन्म प्रमाद तथा राग से होता है। राग निवृत्त होने पर स्वाभाविक आवश्यकता जागृत होती है।

स्वाभाविक आवश्यकता की जागृति अग्नि के समान है, जो प्रमादरूपी लकड़ी को जलाकर श्रीभगवान् से मिला देती है। राग निवृत्त होने पर इन्द्रिय आदि सभी यन्त्र विषयों का गुणगान एवं श्रवण करना अपने-आप बन्द कर देते हैं। विषयों का गुणगान बन्द होते ही स्वाभाविक भगवद्-गुणानुवाद उत्पन्न होता है। जो अपने आप उत्पन्न होता है, उसमें करने का भाव नहीं आता। देखिये, भोजन अपने-आप पचता है, किसी को नहीं भास होता कि मैं पचाता हूँ। अपने आप होने वाली प्रवृत्ति श्रीभगवान् की सत्ता से स्वयं होती रहती है।

अतः श्रीभगवान् स्वयं भक्त होकर आप अपना गुणानुवाद करते हैं। विभक्त होकर विषयी प्राणी श्रीभगवान्

के स्वरूप का गुणानुवाद किसी भी प्रकार नहीं कर सकता। भक्त होकर पतित से पतित प्राणी भी भगवद्-गुणानुवाद के योग्य हो जाता है, जिस प्रकार सभी प्रकार की लकड़ियाँ अग्नि की होकर तद्रूप हो जाती हैं। अग्नि किसी भी लकड़ी को अग्नि बनाने से इन्कार नहीं करती, उसी प्रकार श्री भगवान् किसी भी प्राणी को अपनाने से इन्कार नहीं करते।

भला, यदि भगवान् का स्वरूप अखण्ड एकरस नहीं होता, तो क्या वे सबको अपना सकते थे ? कदापि नहीं, भक्त होते ही भक्त होने के पूर्व की अहंता परिवर्तित हो जाती है। अहंता परिवर्तित होते ही प्रवृत्ति बदल जाती है, क्योंकि अहंता के विपरीत प्रवृत्ति नहीं होती।

अतः 'श्री भगवान् का स्वरूप क्या है ?' यह जानने के लिए एकमात्र यही उपाय है कि प्राणी सद्भावपूर्वक श्रीभगवान् का हो जाय। अहंता परिवर्तित हुए बिना जो कुछ चेष्टा होगी, वह देखने में कितनी ही पवित्र आस्तिकता-युक्त क्यों न हो, उसका अर्थ निर्जीव मशीन की भाँति होगा, एवं अभिनय के स्वरूप में होगा, क्योंकि अहंता के विपरीत प्रवृत्ति प्राणी का जीवन नहीं हो सकती। अतः मनुष्य भक्त होकर ही श्रीभगवान् को जान सकता है और एकमात्र भगवान् का होकर ही भक्त हो सकता है।

[१०] (क)

जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, जिनसे अपनत्व होता है एवं जिनमें सर्वोत्कृष्टता जान पड़ती है, उनसे स्वाभाविक प्यार उत्पन्न हो जाता है; परन्तु प्रमादवश कभी-

कभी दोषयुक्त वस्तुओं से भी अपनत्व हो जाने पर प्यार जैसा मोह हो जाता है, जो निराशाजनित दुःख उत्पन्न करता है। निराशाजनित दुःख उसे कहते हैं कि जिसकी पूर्ति की आशा न होने पर भी पूर्ति की रुचि रहती है। उस दुःख का विचारशीलों ने निरोध किया है। दुःख बड़ी ही अमूल्य वस्तु है, परन्तु आशाजनित होना चाहिए। आशाजनित दुःख उत्पन्न होने पर मोह से उत्पन्न होने वाला दुःख मिट जाता है।

प्रेम-पात्र की आवश्यकता प्रेमपात्र से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है, क्योंकि वह सभी इच्छाओं को मिटाने, सभी सम्बन्धों का विच्छेद करने एवं सभी परिस्थितियों से असङ्ग करने में समर्थ है। यह भली प्रकार समझ लो कि 'है' 'नहीं' को मिटा नहीं पाता, प्रत्युत प्रकाशित करता है सत्ता देता है। परन्तु 'है' की आवश्यकता 'नहीं' को खा जाती है और 'है' से अभेद करती है।

अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रेमपात्र की आवश्यकता प्रेमपात्र से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है। यद्यपि सद्भावपूर्वक अपनत्व तथा सर्वोत्कृष्टता एवं आवश्यकता केवल एक मात्र 'है' की हो हो सकती है, परन्तु प्रमाद तथा आसक्तिवश साधारण प्राणी उसको 'नहीं' यानी शरीरादि वस्तुओं में देखने लगते हैं, जिससे निराशाजनित दु.ख उत्पन्न हो जाता है।

[१०] (ख)

उन्नतिशील प्राणी वही हो सकता है, जिसमें अपनी दृष्टि से अपनी निर्बलताओं को देखने की योग्यता है। निर्बलता का ज्ञान होते ही व्याकुलता उत्पन्न होती है। यह प्राकृतिक

नियम है कि ज्यों-ज्यों व्याकुलता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों निर्बलता मिटाने की शक्ति आती जाती है। निर्बलता उसी प्राणी में निवास करती है, जिसमें निर्बलता होने पर बेचैनी उत्पन्न नहीं होती। अनन्त शक्ति बेचैनी को उसी प्रकार खा लेती है, जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को खा जाता है।

योग्यतानुसार परिश्रम करने पर बेचैनी का आरम्भ होता है, क्योंकि जब तक करने का अभिमान शेष रहता है, तब तक सच्ची व्याकुलता नहीं आती। करने का अभिमान तब मिटता है, जब प्राणी जो कर सकता है, उससे अपने को नहीं बचाता। साधारण प्राणी करने की शक्ति होते हुए भी अपने को निकम्मा बना लेते हैं और उस दोष को निरभिमानता के नाम से प्रकाशित करते हैं। क्या आनन्दघन भगवान् हमसे वह आशा करते हैं, जो हम कर नहीं सकते ? क्या हम जो कर सकते हैं, उसको करने पर, हमारे प्रेमपात्र वह नहीं करेंगे, जो उनको करना चाहिए ?

सच तो यह है कि हम अपने आपको तथा प्रेमपात्र को धोखा देने का प्रयत्न करते हैं, बल होते हुए भी निर्बल बनते हैं, तथा निर्बल होते हुए भी बलवान् के समान सन्तुष्ट रहते हैं। कर्तव्यपरायण प्राणी के जीवन में हार स्वीकार के लिए कोई स्थान ही नहीं होता।

जिस प्रकार माँ को शिशु की सभी आवश्यकताओं का ज्ञान है एवं शिशु के बिना कहे ही माँ वह करती है, जो उसे करना चाहिए; उसी प्रकार आनन्दघन भगवान् हमारे बिना कहे ही वह अवश्य करते हैं, जो उन्हें करना चाहिए।

परन्तु हम उनकी दी हुई शक्ति का सदुपयोग नहीं करते और निर्बलता मिटाने के लिए बनावटी प्रार्थना करते रहते हैं। आनन्दघन भगवान् निरन्तर शक्ति प्रदान करने के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं, किन्तु हम उनको सहायता करने का अवसर नहीं देते।

छोटे से छोटे बच्चे को भी आवश्यकता होने पर बेचैनी होती है, परन्तु हम आवश्यकता होते हुए भी चैन से रहते हैं। हमें अपनी इस ईमानदारी पर विचार करना चाहिए कि हम कितना प्राकृतिक नियम के विरुद्ध करते हैं! गहराई से देखिए, आवश्यकता होने पर पशु-पक्षी भी चैन से नहीं रहते, फिर न मालूम यह अभागा चैन हमारे जीवन में कहाँ से आ गया! अतः हमको गम्भीरतापूर्वक अपने में-से इस बनावटी चैन को निकाल देना चाहिए, जिसने कि आवश्यकता होते हुए भी सन्तुष्ट-सा बना रखा है।

[१०] (ग)

अपने दुःख का कारण किसी और को न समझो। बुराई का उत्तर भलाई से दो। जो संकल्प उत्पन्न हो चुके हैं, उन्हें पवित्रतापूर्वक पूरा कर डालो, और नवीन संकल्प उत्पन्न न होने दो। त्याग स्वतः उत्पन्न होने वाली वस्तु है। काम का अन्त होने पर राम अपने आप आ जाता है।

जीवन की घटनाओं के अर्थ को अपनाओ, घटनाओं को भूल जाओ। दुःख भूल जाओ। वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर, अपने को सभी परिस्थितियों से असङ्ग कर लो। परिस्थिति-परिवर्तन की अपेक्षा परिस्थिति का सदुपयोग अधिक मूल्य की वस्तु है, क्योंकि परिस्थिति-परिवर्तन से

त्याग का अभिमान आता है और परिस्थिति के सदुपयोग से परिस्थिति से सम्बन्ध-विच्छेद होता है। त्याग का अभिमान राग का मूल है, इसे विचारशील जानते हैं।

प्यारे, दुःख से डरो मत, प्रत्युत उसका सदुपयोग करो। यह भली प्रकार से समझ लो कि जो प्राणी सद्भावपूर्वक एक बार भगवान् का हो जाता है, उसका पतन नहीं होता। अतः 'मैं भगवान् का हूँ'—यह महामन्त्र जीवन में घटा लो। ऐसा करने पर सभी उलझनें सुलझ जाएँगी। भगवान् का हो जाने पर आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्ति अवश्य हो जाती है। ऐसा जीवन की अनेक घटनाओं से अनुभव हुआ है।

सभी विकास त्याग की कृपा पर निर्भर हैं।

राम की कृपा राम से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है। राम असत्य को प्रकाशित करते हैं, राम की प्रतीक्षा असत्य को खा कर, राम से अभेद करती है।

[११]

१—एक तृषावंत प्राणी अनन्त जल में पड़ा है, किन्तु उसके कण्ठ में छिद्र है। वह मुँह से पानी पीता है, किन्तु वह पेट तक नहीं पहुँचता, कण्ठ से निकल जाता है। बेचारा जल में रहते हुए भी प्यासा ही रहता है। यदि वह प्राणी अपना मुँह फेर ले, तो कण्ठ का छिद्र ऊपर हो जाएगा, उस दशा में पिया हुआ पानी प्यास बुझा देगा। इसी प्रकार हम लोगों को आनन्द की प्यास अवश्य है, हम रहते भी आनन्द में हैं, किन्तु फिर भी हमको आनन्द नहीं मिलता। यदि हम अपना मुँह फेर लें, तो आनन्द की प्यास बुझ जाय।

हमको अपना दोष दिखाई तो देता है, किन्तु उस दोष के रहने से हम सम्पूर्ण रूप से दुःखी नहीं होते। इसी कारण निर्दोषता की आवश्यकता पूर्ण रूप से जागृत नहीं होती। जो आवश्यकता के स्वरूप में ही नहीं है; उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

एक ही दोष स्थान-भेद से अनेक प्रकार का दिखाई देता है। एक ही गुण स्थान-भेद से अनेक प्रकार का दिखाई देता है। दोषी रहकर कोई भी प्राणी चैन से नहीं रहता। निर्दोषता आने पर किसी प्रकार की बेचैनी शेष नहीं रहती। दोष का यथार्थ ज्ञान निर्दोषता की आवश्यकता जागृत करता है।

× × ×

२—निस्सन्देह जिनको आप भगवान् समझते हैं, वे केवल उपदेष्टामात्र ही हैं, संकट-मोचन नहीं। परन्तु यह भी सत्य है कि वर्तमान भक्तजनों को अनुकूल परिस्थिति के अतिरिक्त भगवान् के वास्तविक स्वरूप की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान भगवान् परिस्थिति अनुकूल कर नहीं पाते और वर्तमान भक्त परिस्थिति का त्याग नहीं कर पाते।

हम लोग सेकण्ड क्लास के मुसाफिरों के समान हो गए हैं। हृदय तथा मस्तिष्क की एकता फर्स्ट क्लास के तथा थर्ड क्लास के मुसाफिरों में होती है। जब हम लोगों के सामने कोई भयंकर दुःख आता है, तब किसी-न-किसी बनावटी सुख की ओट लेकर अपने को पूर्णरूप से दुःखी नहीं होने देते और सुख आने पर छिपे हुए घोर दुःख को सोचने लगते हैं, अर्थात् हृदय सुख का भोग करने लगता है और मस्तिष्क बनावटी दुःख का चिन्तन करता है। ऐसी अवस्था में न तो दुःख सुख

को खाकर दुःख होता है और न सुख दुःखों को मिटाकर सुख होता है, अर्थात् जीवन में सच्चाई नहीं आती।

. जब हम अपनी दृष्टि से अपने को देखते हैं, तो यही मालूम होता है कि सच्चाई के साथ आस्तिकता उत्पन्न नहीं हुई, क्योंकि परिस्थितियों की दासता मिट नहीं पाती। क्या हम वास्तव में परिस्थितियों के रस को त्यागकर भगवान् के हो गए ? यदि नहीं हो गए, तो वे हमें संकट-मोचन कैसे मालूम पड़ेंगे ? हमें तो अनुकूल परिस्थिति चाहिए, भगवान् नहीं। प्रत्येक परिस्थिति स्वरूप से प्रतिकूल है; हम प्रतिकूलता को अनुकूलता मान लेते हैं। भगवान् प्रतिकूलता को प्रतिकूलता बनाने के लिए अनेक प्रतिकूलताओं के स्वरूप में अनेक लीलाएँ करते हैं। परन्तु हमारे मन में तो अपनी बनाई हुई लीला देखने को रुचि है, भगवान् की लीला तथा भगवान् को देखने की फुरसत ही नहीं।

जब हम उनको बुलाते ही नहीं, उनके होते ही नहीं, ऐसी ऐसी दशा में वे नहीं आते, तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है ? प्यारे, फर्स्ट क्लास के मुसाफिर को केवल सुख होता है और थर्डक्लास के मुसाफिर को केवल दुःख। किन्तु सेकण्ड क्लास के मुसाफिर को फर्स्ट क्लास के मुसाफिर को देखकर दुःख, और थर्ड क्लास के मुसाफिर को देखकर सुख होता है। सुख-दुःख दोनों के कारण सेकण्ड-क्लास के मुसाफिर के हृदय तथा मस्तिष्क में संघर्ष ही रहता है।

यदि आस्तिकता की ओर जाना है, तो थर्ड क्लास के मुसाफिर की भाँति केवल दुःख को अपनाओ, और यदि परि-स्थितियों की ओर जाना है, तो फर्स्ट क्लास के मुसाफिरों की

भाँति दुःख में भी सुख देखने रहो। ऐसा करने से हृदय तथा मस्तिष्क में एकता हो जाएगी।

चिन्ता करने में आप लोगों को रस आता है। दुःख से कहीं अधिक आप लोग दुःख का ढोंग बनाते हैं। संसार का होकर रहने में आपको भय लगता है। आप जगत् तथा ईश्वर को अपनी इच्छा का दास देखना चाहते हैं। जगत् तथा ईश्वर का होकर रहने में अपना अपमान समझते हैं। सुख छिनते ही घबराने लगते हैं। जिस दुःख की कृपा से प्राणी दुःखहारी हरि को पाता है, उससे डरते हैं और जिस सुख की कृपा से प्राणी वासनाओं के जाल में फँस जाता है, उसकी दासता करते हैं।

क्या प्राणी जगत् का होकर, सुख का भोग तथा सुख की आशा कर सकता है ? क्या सच्चा दुःखी दुःखहारी हरि से भिन्न किसी और का हो सकता है ? कदापि नहीं। चिन्ता की अग्नि उसी प्राणी के हृदय में जलती है, जो वास्तव में न तो सुखी होता है और न सच्चा दुःखी। विचारशील आए हुए सुख-दुःख का सदुपयोग करते हैं, चिन्ता नहीं। चिन्ता वही प्राणी करते हैं, जो परिस्थितियों के दास होते हैं। प्यारे, परिस्थितियों का दास किस प्रकार आस्तिक हो सकता है, और आस्तिक किस प्रकार परिस्थितियों का दास हो सकता है ?

[१२]

निर्बलता महान् दुःख है, अतः प्रत्येक प्राणी में कोई-न-कोई निजी बल होना चाहिए। बल वही सार्थक है, जिसमें किसी का

अहित न हो और प्रतिकूलताओं पर विजय प्राप्त कर, लक्ष्य की प्राप्ति में समर्थ हो।

(१) अपने इष्ट पर विकल्प-रहित विश्वास।
(२) स्वधर्म-प्रियता।
(३) जानकारी का आदर।
(४) सर्व-हितकारी सद्भावना।
(५) सर्व इन्द्रियों का संयम।
(६) व्यर्थ चिन्तन का अभाव।
(७) की हुई भूल को पुनः न करना।
(८) समय का सदुपयोग।
(९) त्याग।

इन बलों के प्राप्त करने पर निर्बलताएँ शेष नहीं रहतीं। इनको प्राप्त करने में साधक परतन्त्र नहीं है। जब तक निर्बलताओं की वेदना नहीं होती, तभी तक साधक को परतन्त्रता प्रतीत होती है, क्योंकि सच्चाई सुगम है, कठिन नहीं; सम्भव है, असम्भव नहीं; स्वाभाविक है, अस्वाभाविक नहीं; प्राकृतिक विधान के अनुरूप है, विपरीत नहीं। अतः सच्चाई प्राप्त करने में प्राणी स्वतन्त्र है, परतन्त्र नहीं।

[१३]

१—साधारण प्राणी साधन को जीवन का अङ्ग बनाते हैं और विचारशील जीवन को साधन बनाते हैं। इन दोनों में अन्तर केवल इतना है कि जो साधन जीवन का अङ्गमात्र रहता है, उससे साधक की अभिन्नता नहीं हो पाती, अर्थात् साधक और साधन में किसी-न-किसी प्रकार की दूरी बनी

रहती है। अभिन्नता के बिना साधन, साधक तथा साध्य में एकता नहीं होती। अर्थात् साधक सदैव साधन तथा साध्य से भिन्न रहता है, जो परम दोष है। क्योंकि साधन वही सार्थक है, जो साधक को साध्य से अभिन्न कर सके। वह तभी हो सकता है कि जब जीवन ही साधन वन जाय, साधन जीवन का अंग-मात्र न रहे।

जो साधन जीवन का अंग-मात्र रहता है, वह उसी प्रकार शृंगार-मात्र है, जिस प्रकार अनेक वस्तु तथा अलंकारों से विपयी प्राणी शरीर को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करते हैं।

गहराई से देखिए, वर्तमान जीवन वास्तविक नित्य जीवन का एकमात्र साधन है। परन्तु जब प्राणी प्रमाद-वश वर्तमान जीवन को ही जीवन मान लेता है, तब अनेक साधनों से जीवन को सुशोभित करने का प्रयत्न करता है; अर्थात् साधक तथा साधन एवं साध्य में सर्वांश में एकता न होने पर भी एकता का प्रयत्न करता है, जो असम्भव है। व.स्तव में तो वर्तमान परिवर्तनशील जीवन को नित्य-जीवन का साधन समझना चाहिए। जिस प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियों की भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ एक ही अर्थ को सिद्ध करती हैं; उसी प्रकार जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति क्रिया-दृष्टि से भिन्न- भिन्न प्रकार की होने पर भी एक ही अर्थ में विलीन होनी चाहिए, तभी साधन सार्थक हो सकता है।

जिस प्रकार अपनी सुन्दरता पर विश्वास न होने पर प्राणी अपने को भिन्न-भिन्न वस्तुओं द्वारा सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार जो साधन साधक के अहंभाव से उत्पन्न नहीं होता, वह साधक के लिए शृंगार-मा:त हैं, जोवन नहीं।

गम्भीरतापूर्वक विचार कीजिए, अहंता-परिवर्तन के पूर्व शरीर और इन्द्रियों द्वारा किया हुआ साधन साधक के जीवन को एक ही लक्ष्य में किसी भी प्रकार विलीन नहीं होने देता, क्योंकि ज्ञान, भाव तथा क्रिया की एकता नहीं होती। अहंता के परिवर्तन होने पर क्रिया, ज्ञान एवं भाव की एकता हो जाती है, अर्थात् भक्त होने पर भक्ति स्वतः आ जाती है; जिज्ञासु होने पर विचार स्वतः उत्पन्न होता है; सेवक होने पर सेवा स्वभावतः आ जाती है; क्योंकि मन, इन्द्रियों आदि की चेष्टा अहंभाव के विपरीत नहीं होती।

मन, इन्द्रिय आदि तभी तक विरोध करते हैं, जब तक अहंभाव स्वीकृति के अनुरूप नहीं होता, जीवन का अङ्गमात्र रहता है। इसी कारण प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में स्वतः अनुराग नहीं आता, क्रिया-भेद के साथ-साथ प्रीति तथा लक्ष्य-भेद भी हो जाता है, जो परम भूल है। जिज्ञासु हुए बिना किया हुआ विचार बुद्धि का व्यायाम है; सेवक हुए बिना की हुई सेवा पुण्य कर्म है और भक्त हुए बिना किया हुआ भगवच्चिन्तन भोग प्राप्ति का साधन-मात्र है, भक्ति नहीं।

अहंभाव के अनुरूप की हुई प्रवृत्ति में क्रिया-भेद होने पर भी प्रीति तथा लक्ष्य-भेद नहीं होता। अतः प्रत्येक साधन का जन्म अहंभाव से होना चाहिए। अर्थात् जिस लक्ष्य को प्राप्त करना है, उसके अनुरूप अहंता बना लो। ऐसा करते ही जीवन साधन हो जाएगा। जब तक जीवन साधन नहीं होता, तब तक वियोग का भय बना ही रहता है, अर्थात् स्थायी एकता नहीं होती। एकता के बिना साधक की सारी प्रवृत्तियाँ साधन नहीं होतीं।

अपनत्व का बल सभी बलों से श्रेष्ठ है, क्योंकि अपनत्व होते ही प्रियता और प्रियया होते ही प्रेम-पात्र की अहैतुकी कृपा स्वतः होने लगती है। अतः यदि प्रेम-पात्र के प्रेम को चाहते हो, तो सब प्रकार से उनके हो जाओ। ऐसा करने पर भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनों की खोज नहीं करनी पड़ेगी। जिस प्रकार जिसे अपनी सुन्दरता पर सद्‌भाव होता है, वह अपने को अलंकारों की दासता में आवद्ध नहीं करता; उसी प्रकार जो साधन, साधक का जीवन बन जाता है, उसे भिन्न-भिन्न बाह्य साधनों में आवद्ध नहीं होना पड़ता।

× × × ×

२—इन नेत्रों को अनन्त सौन्दर्य क्यों नहीं दिखाई देता? इस कारण कि वे सीमित सौन्दर्य की दासता में आवद्ध हो जाते हैं।

इस मन को अनन्त नित्य रस क्यों नहीं मिलता? इस कारण कि वह सीमित परिवर्तनशील रस में बँध जाता है।

इस बुद्धि को अनन्त नित्य ज्ञान क्यों नहीं मिलता? क्योंकि वह सीमित परिवर्तनशील ज्ञान के आस्वादन में बँध जाती है।

इस अहंता को अनन्त नित्य-जीवन क्यों नहीं मिलता? इसलिए कि वह सीमित परिवर्तनशील जीवन में सद्‌भाव कर लेती है।

प्राकृतिक विधान के अनुसार जितनी भूख होती है, उतना ही भोजन माँ खिलाती है। भूख न रहने पर सर्व-समर्थ माँ भी नहीं खिला पाती, यह सभी जानते हैं। उसी प्रकार अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न सर्वसमर्थ हमारी माँ हमें अनन्त ऐश्वर्य

माधुर्य का आस्वादन इस कारण नहीं करा पाती कि हम परिवर्तनशील विषय-सुख में ही अपने को बांध लेते हैं; यद्यपि मां अपनी अहैतुकी कृपा से उन विषयों को निरन्तर छिन्न-भिन्न कर, त्याग का पाठ पढ़ाने का प्रयत्न करती है। हमें प्राकृतिक विधान का विरोध नहीं करना चाहिए। विधान का आदर करते ही हमारी सभी निर्बलताएँ अवश्य मिट जाएँगी। हम नित्य-जीवन, नित्य रस, नित्य प्यार का आस्वादन कर कृत-कृत्य हो जाएँगे।

हमारी अवनति का मूल कारण प्राकृतिक विधान का विरोध है, अथवा यों कहो कि हम निज-ज्ञान का निरादर करते हैं, अर्थात् ज्ञान के अनुरूप जीवन नहीं बनाते, प्रत्युत क्रियाजन्य रस में आसक्त हो, निज-ज्ञान का तिरस्कार करते हैं। सच तो यह है कि ज्ञान तथा शक्ति, आदर करते ही उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं और निरादर करते ही घटते जाते हैं। अतः प्राप्त ज्ञान तथा शक्ति का सदुपयोग उन्नति का मूल साधन है।

× × ×

३—जो 'विभक्त नहीं है', वही भक्त है। भक्त तो निरन्तर सद्भाव-पूर्वक प्रेम-पात्र का होकर ही रहता है। जब भक्त सब प्रकार से उनका हो जाता है, तब भक्त की सत्ता भक्ति होकर अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य-सम्पन्न भगवान् का आस्वादन करती है।

भक्ति से भिन्न भक्त की कुछ भी सत्ता शेष नहीं रहती। भक्ति के आते ही निर्वासन स्वभावतः आ जाती है। निर्वासना आते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्यगुण

स्वतः आ जाते हैं। प्रेम-पात्र से मिली हुई सीमित शक्तियों को अपना मत समझो। उन्हें उसी प्रकार प्रेम-पात्र को समर्पित कर दो, जिस प्रकार मिट्टी कुम्हार के प्रति समर्पित हो जाती है, क्योंकि ऐसा करने पर ही प्राणी भक्त हो सकता है।

यह भली प्रकार समझ लो कि मिट्टी कुम्हार की योग्यता तथा बल से ऐसी बन जाती है कि कुम्हार के काम आती है, और उसका प्यार भी पाती है। उसी प्रकार जो भक्त मिट्टी की भाँति प्रेम-पात्र के समर्पित हो जाता है, वह उनके अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य से उनके काम आता है और उनका प्यार पाता है। इतना ही नहीं, वे प्रेमी के ऋणी बन जाते हैं।

× × ×

४—जिसका परिवर्तन अनिवार्य है, वह प्राणी की आवश्यकता नहीं हो सकती। प्राणी की वास्तविक आवश्यकता वही हो सकती है, जिसका वियोग न हो, क्योंकि संयोग की दासता तथा वियोग का भय किसी भी प्राणी को सह्य नहीं है। स्वाभाविक अप्रियता उसी से होती है, जिसकी आवश्यकता न हो।

जिसका वियोग नहीं है, उससे देश-काल की दूरी कदापि नहीं हो सकती। जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, उसके लिए भविष्य की आशा उचित नहीं मालूम होती, क्योंकि वर्तमान में मिल सकती है। होते हुए भी न मिले, तो 'न जानने' की दूरी समझनी चाहिए। 'न जानने' की दूरी एकमात्र जानने से ही मिट सकती है। 'न जानने' का दोष मिटाने के लिए किसी बाह्य संघ की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ज्ञान किसी वस्तु से नहीं आता, प्रत्युत स्वयं वस्तुओं को प्रकाशित करता है। ज्ञान जिसका स्वरूप है, वह वस्तु नहीं है।

साधारणतः वस्तु तथा सत्ता को एक अर्थ में लेते हैं, परन्तु तात्त्विक-दृष्टि से इनमें भेद है। वस्तु परप्रकाश्य, परिवर्तनशील तथा सीमित होती है तथा सत्ता स्वयं-प्रकाश, नित्य एवं असीम होती है। इतना ही नहीं, वस्तुओं का वस्तुत्त्व सत्ता द्वारा ही प्राप्त होता है।

अतः ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों ज्ञान की कृपा से स्वतः जिज्ञासा की पूर्ति होती जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति होते ही, 'न जानने' की दूरी मिट जाती है और प्राणी अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लेता है। 'न जानने' का दोष मिटाने के लिए तीव्र जिज्ञासा ही सर्वोत्कृष्ट साधन है, जिसे साधक स्वतन्त्रता पूर्वक कर सकता है।

सच तो यह है कि प्राणी आवश्यकता-पूर्ति में स्वतन्त्र और इच्छाओं की पूर्ति में सर्वदा परतन्त्र है। साधारण प्राणी इच्छा और आवश्यकता का भेद नहीं जानते, इस कारण परतन्त्रता की वेदना से पीड़ित रहते हैं।

प्रत्येक परिस्थिति सुख-दुःख युक्त है, वास्तव में तो प्राकृतिक न्याय है। जिस प्रकार कारागार के नियमों का पालन करने पर प्राणी कारागार से छूट जाता है, उसी प्रकार प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने पर प्राणी परिस्थिति से असंग हो जाता है। परिस्थिति से असंग होते ही प्रेमी को प्रेम-पात्र और जिज्ञासु को तत्वज्ञान स्वतः प्राप्त होता है।

भक्त को भगवान् से और जिज्ञासु को तत्त्व-ज्ञान से परिस्थिति की दासता ने विमुख किया है। इतना ही नहीं, परिस्थिति में आबद्ध प्राणी विश्व का भी ऋणी बन जाता है। जो विश्व का ऋणी है, वह न जिज्ञासु है, न भक्त। इस कारण

उन्नतिशील प्राणी सुख-दुःख-युक्त परिस्थिति का सेवा तथा त्याग द्वारा सदुपयोग कर विश्व के ऋण से मुक्त हो, प्रेम-पात्र के प्रेम का आस्वादन कर कृतकृत्य हो जाते हैं।

यद्यपि प्रेम-पात्र प्रेमी की सतत प्रतीक्षा करते हैं, परन्तु अभागा प्रेमी, प्रेमी न होकर, परिस्थिति का दास बन, प्रेम-पात्र के नित्य-अनन्त प्रेम से विमुख हो, सुख-दुःख के जाल में फँस जाता है।

[१४]

प्रश्न—वह कौन सी अच्छाई है कि जिसके अपनाते ही अनन्त काल के दोष मिट जाते हैं ?

उत्तर—'त्याग'; क्योंकि त्याग से दोषी की सत्ता ही शेष नहीं रहती, तो फिर दोष किस प्रकार जीवित रह सकते हैं ? कदापि नहीं। गहराई से देखिए, ऐसा कोई दोष नहीं होता जिसका जन्म दोषी से न हो, अर्थात् प्रत्येक दोष-युक्त चेष्टा दोषी का ही रूपान्तर होती है। त्याग अपनाते ही दोषीभाव मिट जाता है। उसके मिटते ही प्राणी सब प्रकार से निर्दोष परम-तत्त्व के शरणापन्न हो, कृतकृत्य हो जाता है।

[१५]

भिन्नता स्वीकार करने पर अभिमान उत्पन्न होता है, जो वास्तव में प्रमाद है। बड़ी से बड़ी अच्छाई अभिमान आने पर बुराई में बदल जाती है। अभिमान के लिए मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। "है" से भिन्नता और "नहीं" से अभिन्नता स्वीकार करने पर अभिमान उत्पन्न होता है, अथवा

यों कहो कि अभिमान उत्पन्न होने पर "है" यानी प्रेम-पात्र से भिन्नता एवं "नहीं" यानी दृश्य से एकता का भाव उत्पन्न होता है, जो दीनता का मूल कारण है।

यदि 'अदीन' होना चाहते हो, तो प्रथम अभिमान मिटा दो। अभिमान के मिटते ही दीनता सदा के लिए मिट जाएगी और फिर अपने में ही सब कुछ अनुभव होगा, अर्थात् 'यह' दृश्य 'वह' परमात्मा, 'मैं' इन तीनों की अभिन्नता हो जाएगी।

अभिमान को अपनाने वाला प्राणी आस्तिक कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि आस्तिकता 'है' से एकता और 'नहीं' से भिन्नता उत्पन्न करती है।

परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि रहने से अभिमान सुरक्षित रहता है। निरभिमान होने पर बड़ी से बड़ी बुराई, अच्छाई में बदल जाती है, क्योंकि निरभिमानता आते ही सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता। दीनता का अभिमान भी अभिमान है। अतः निरभिमानता आने पर दीनता एवं अभिमान दोनों ही मिट जाते हैं।

[१६]

प्रेमी तथा प्रेम-पात्र के स्वभाव में केवल यही अन्तर है कि प्रेम-पात्र प्रेमी को कभी नहीं भूलता; प्रेमी सुखासक्ति के कारण प्रमादवश भूल जाता है। परन्तु यह जानकारी प्रेमी को नहीं होती कि प्रेम-पात्र नहीं भूलते। प्रेमी तो अपने स्वभाव के अनुसार यही समझता है कि प्रेम-पात्र भूल गए होंगे। गम्भीरतापूर्वक विचार कीजिए कि आनन्दघन प्रेम-पात्र प्रेमी

को स्वयं चाहते हैं; क्योंकि आनन्द किसी ने देखा नहीं, परन्तु आनन्द की रुचि प्रत्येक मानव में स्वाभाविक है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि आनन्दघन प्रेम-पात्र ही प्रेमी को चाहते हैं।

प्रेम आरम्भ में एकांगी होता है। जिस प्रकार माँ के प्यार से शिशु के मन में माँ को चाह उत्पन्न होती है और दीपक के जलने पर ही पतङ्गा उस पर मोहित होता है, उसी प्रकार प्रेम-पात्र के पवित्र प्रेम के कारण ही प्रेमी के मन में प्रीति जागृत होती है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रेमपात्र प्रेमी को कभी नहीं भूलते।

साधारणतः सत् तथा असत् का होना कुछ अर्थ नहीं रखता, क्योंकि सत् के होते हुए भी प्राणी वियोग के भय से भयभीत है और असत् को असत् समझने पर भी संयोग की दासता में आवद्ध है। वियोग का भय तथा संयोग की दासता प्राणी पर शासन करती रहती है, जब तक कि सत् की आवश्यकता न हो और असत् से अरुचि न हो। आवश्यकता से सम्बन्ध, सम्बन्ध से प्रियता, प्रियता से व्याकुलता एवं व्याकुलता से सफलता स्वतः होती है, यह प्राकृतिक विधान है। इस दृष्टि से अखण्ड आनन्द की आवश्यकता की पूर्ति अनिवार्य है।

यद्यपि आनन्द की आवश्यकता प्रत्येक प्राणी में स्वाभाविक विद्यमान है, परन्तु उसको भोगेच्छा की आसक्ति ने ढक लिया है; इस कारण स्वाभाविक आवश्यकता (Natural want) निर्जीव-सी हो जाती है और भोगासक्ति के कारण भोगेच्छा, जो वास्तव में अस्वाभाविक (Unnatural desire) है और

जिसका जन्म एकमात्र प्रमाद तथा राग एवं दीर्घकाल के अभ्यास से हुआ है, सजीव-सी प्रतीत होती है। वास्तव में तो यह अस्वाभाविक (Artificial) है।

असत्य को असत्य समझने मात्र से ही असत्य से छुटकारा नहीं मिलता। गहराई से देखिए, सिनेमा, अभिनय आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की स्वीकृतियों को मिथ्या समझते हुए भी उनमें आसक्ति हो जाने के कारण प्राणी बँध जाता है। सत्य की आवश्यकता ज्यों-ज्यों स्थायी तथा सबल होती जाती है, त्यों-त्यों असत्य से छुटकारा स्वतः होता जाता है। ज्यों-ज्यों असत्य से छुटकारा होता जाता है, त्यों-त्यों सत्य से अभिन्नता होती जाती है।

इस दृष्टि से असत् से छुटकारा तथा सत्य से अभिन्नता कराने में सत्य की आवश्यकता ही समर्थ है। गम्भीरतापूर्वक विचार कीजिए, सत् असत् को मिटाता नहीं, प्रत्युत प्रकाशित करता है। अतः सत् की आवश्यकता सत् से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है।

आनन्द की आवश्यकता ज्यों-ज्यों सबल होती जाती है, त्यों-त्यों व्याकुलता की अग्नि प्रज्वलित होती जाती है और ज्यों-ज्यों व्याकुलता की अग्नि स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों सभी दोष स्वतः मिटते जाते हैं। तीव्र व्याकुलता जागृत् होने पर साधक को किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती। इस कारण आनन्द के अभिलाषी को यदि स्वतन्त्रतापूर्वक वर्तमान में ही आनन्द प्राप्त करना है, तो घोर व्याकुलता जागृत् करने का सतत् प्रयत्न करते रहना चाहिए।

आनन्द से निराश होना भूल है, क्योंकि यह प्राणी की निज की सम्पत्ति है। सुख-दुःख से मुक्त होने पर आनन्द की आवश्यकता स्थायी होती है। सेवा तथा त्याग से सुख-दुःख का बन्धन टूट जाता है।

[१७]

जिस संयोग के बिना किसी भी प्रकार नहीं रह सकते, उसको संयमपूर्वक करो। ऐसा करने से संयोग की दासता मिट जाएगी और संयोग में वियोग देखने की शक्ति आ जाएगी। यद्यपि प्राकृतिक विधान के अनुसार प्रत्येक संयोग बिना ही प्रयत्न वियोग में विलीन होता है, किन्तु संयोग की दासता के कारण वियोग होने पर भी संयोग ही बना रहता है, जो प्राकृतिक विधान का निरादर है। उस निरादर को मिटाने के लिए वियोग अपना लेना अनिवार्य है, अर्थात् स्वयं विचारपूर्वक संयोग में वियोग देखने का प्रयत्न करो।

लक्ष्य पर दृष्टि रखने से अर्थात् स्वाभाविक आवश्यकता को न भूलने से वियोग अपनाने में सुगमता होगी। अतः आवश्यकता कभी मत भूलो।

[१८]

सुख का भोग करने पर प्राणी के जीवन में प्रमाद, बेईमानी, हृदय-हीनता एवं परतन्त्रता आ जाती है। गम्भीरतापूर्वक विचार कीजिए, जब तक प्राणी प्रमाद को नहीं अपनाता, अर्थात् परिवर्तन में अपरिवर्तन भाव नहीं स्वीकार करता तथा विश्व की वस्तुओं को अपनी वस्तु नहीं मानता,

अर्थात् ईमानदारी का त्याग नहीं करता, तथा अपने से अधिक दुखियों को देखते हुए भी दुःखी नहीं होता, अर्थात् हृदय-हीनता को अपना लेता है, एवं जब तक वस्तुओं से अपना मूल्य घटाकर उनके अधीन हो, परतन्त्रता स्वीकार नहीं करता, तब तक सुख का भोग सिद्ध नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सुखी जीवन तथा पशु-जीवन में कोई भेद नहीं है।

मानव-जीवन में सुख-भोग के लिए कोई स्थान ही नहीं है, प्रत्युत सुख के बन्धन से मुक्त हाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना आवश्यक है। आध्यात्मिक जीवन (Spiritual Life) में सुख की सत्ता ही शेष नहीं रहती, क्योंकि आनन्द से अभिन्नता हो जाती है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि सुख का भोग पशु-जीवन है।

साधारण प्राणी सुख की दासता को सुख मानते हैं, जो वास्तव में भूल है। सुख की दासता तो सुख से भी अधिक हेय है, क्योंकि सुख तो बाँटा जा सकता है, किन्तु सुख की दासता न तो अपने काम आती है और न अन्य किसी के, अर्थात् उससे किसी भी प्रकार की सार्थकता सिद्ध नहीं होती है। हाँ, यह अवश्य है कि सुख की दासता का चिन्तन न तो दुःखी होने देता है और न सुखी। इस कारण विचारशील सुख की दासता को नहीं अपनाते।

अपनी वास्तविक कमी का ज्ञान और उसको मिटाने का प्रयत्न सच्चा दुःख है, जिसके अपना लेने पर प्राणी का विकास अवश्य होता है। अतः सुख की दासता को सुख नहीं समझना चाहिए।

[१९]

परिस्थिति का सदुपयोग करने के लिए आस्तिकता यानी ईश्वर-विश्वास तथा आत्म-विश्वास, निरभिमानता यानी स्वीकृतिजन्य सत्ता में सद्भाव न रहना, निर्भयता, सहनशीलता अर्थात् प्रतिकूल तथा अनुकूल आक्रमणों के प्रभाव से भयभीत न होने आदि का वल, कार्य-कुशलता और प्राणिमात्र के प्रति हृदय में प्यार—इन सद्गुणों के अनुरूप जीवन का होना परम अनिवार्य है।

परिस्थिति का सदुपयोग होने पर परिस्थिति से असङ्गता अपने आप आ जाती है और सभी परिस्थितियों से असङ्ग होने पर प्रेमी अपने में ही अपने प्रीतम का अनुभव कर कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से परिस्थिति का सदुपयोग सर्वोत्कृष्ट साधन है।

अनन्त ऐश्वर्य-माधुर्य को त्याग, सीमित ऐश्वर्य-माधुर्य से सन्तुष्ट होने का स्वभाव ही परम 'प्रमाद' है।

उस प्रवृत्ति का नितान्त अन्त कर देना चाहिए, जो किसी अन्य के हित तथा प्रसन्नता का साधन न हो, क्योंकि अपनी पूर्ति एकमात्र स्वार्थ-त्याग द्वारा ही हो सकती है। यह निःसन्देह सत्य है।

प्रत्येक अवस्था कर्ता का विकास है। अतः कर्ता का अभाव होते ही अवस्थातीत निज-स्वरूप का स्वयं बोध हो जाता है। ऐसी कोई अवस्था नहीं है, जो किसी-न-किसी क्रिया से उत्पन्न न हो। ऐसी कोई क्रिया नहीं है, जो कर्ता से उत्पन्न न हो। ऐसा कोई कर्ता नहीं है, जो सीमित न हो। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक अवस्था सीमित कर्ता का विकास है और कुछ नहीं। परन्तु

प्राणी की आवश्यकता असीम और निर्विकार नित्य-जीवन एवं नित्य-रस की है।

अतः सीमित कर्ता का अभाव आवश्यकता-पूर्ति के लिए परम अनिवार्य है। इच्छाओं की निवृत्ति होने पर जब आवश्यकता जागृत हो जाती है, तब सीमित कर्ता का अन्त करने की शक्ति स्वयं आ जाती है।

[२०]

जो कहना चाहिए, उसके कहने पर मौन अपने आप हो जाता है। जो करना चाहिए, उसके करने पर निश्चिन्तता अपने आप आ जाती है। अर्थात् प्रत्येक क्रिया का सदुपयोग करने पर निष्क्रियता का आ जाना परम अनिवार्य है, क्योंकि कर्म के न रहने पर अहंता गल जाती है, अथवा यों कहो कि निर्जीव यन्त्र की भाँति हो जाती है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जो करना चाहिए, उसके कर लेने पर 'करना' शेष नहीं रहता।

भक्त होने पर भक्ति स्वयं उत्पन्न होती है। भक्त होना ही भक्ति का प्रचार करना है। भक्ति किसी अभ्यास का नाम नहीं है। भक्त को भगवान् से जो तद्रूप कर देती है, वही भक्ति है। जब प्राणी संसार से विभक्त हो जाता है, तब वह भक्त अपने आप हो जाता है। जीवन की घटनाओं का यथार्थ अध्ययन करने पर तथा वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने पर संसार का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। जो प्राणी वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करता, उसका जीवन साधन नहीं हो पाता। जीवन साधन होने पर, क्रिया-भेद होने पर भी प्रीति-भेद तथा लक्ष्य-भेद नहीं होता।

[२१]

विश्वास-मार्ग तथा विचार-मार्ग, ये दोनों भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र मार्ग हैं। विश्वास में विचार के लिए और विचार में विश्वास के लिए कोई स्थान नहीं है। विचारशील प्रथम जानता है, पश्चात् मानता है, अर्थात् जानने के पश्चात् भक्त होता है। विचार उदय होता है, किया नहीं जाता। विचार के उदय होते ही अविचार समूल नष्ट हो जाता है। अविचार मिटते ही साधक, साधन तथा सिद्धि, इन तीनों में एकता हो जाती है।

जिज्ञासु के लिए आनन्दघन भगवान् का विचार के स्वरूप में स्वयं प्राकट्य होता है। अतः विचार किया नहीं जाता, अपने आप होता है। जिज्ञासु वही है, जो अपनी अनुभूति के अनुरूप सदोष सत्ता का त्याग करने में समर्थ है। अर्थात् जिज्ञासु कभी अपनी दृष्टि से देखे हुए दोषों के साथ सम्बन्ध नहीं रखता। यह नियम है कि जो प्राणी अपने ज्ञान का आदर करता है, उसे ज्ञान और कर्म की एकता होने पर भगवान् की कृपा से ज्ञान अपने आप हो जाता है। अतः विचारशील भी विश्वास-मार्गी की भाँति भगवान् की ही कृपा से सफलता पाता है। केवल बुद्धि का व्यायाम विचार नहीं है।

विश्वास-मार्गी वही प्राणी हो सकता है, जो आस्तिकता से इन्कार नहीं करता, अर्थात् जिसने हृदय तथा मस्तिष्क दोनों से भली प्रकार सद्भावपूर्वक यह निश्चय कर लिया है कि भगवान् अवश्य हैं। उसे इस बात के जानने की कोई आवश्यकता नहीं है कि भगवान् सविशेष हैं या निर्विशेष। यह काम

तो भगवान् का है कि वह अपने भक्त की पूर्ति के लिए अपने आप अपने को प्रकाशित करें, जिस प्रकार दीपक अपने को प्रकाशित कर पतिंगों को अपने में विलीन कर लेता है। यदि दीपक स्वयं अपने को प्रकाशित न करता, तो पतिंगा आकर्षित कदापि न होता। हाँ, यह अवश्य है कि पतिंगे के हृदय में दीपक की रुचि विद्यमान थी। उसी प्रकार भक्त के हृदय में जैसी रुचि विद्यमान है, उसके अनुरूप भगवान् का प्राकट्य अपने आप होगा।

भक्त का केवल यही परम धर्म है कि वह सद्भावपूर्वक उनका हो जाय। यदि भक्त की अहंता में साकार भाव शेष है, तो भगवान् का सगुण प्राकट्य अवश्य होगा। यदि भक्त की अहंता में-से साकार भाव निःशेष हो गया है, तो भगवान् भक्त के लिए तत्त्व-ज्ञान के स्वरूप में प्रकट होंगे। मेरे विश्वास के अनुसार भक्त को भगवान् के विषय में अपनी ओर से कोई कार्टून(Cartoon)नहीं बनाना चाहिए और न सीमित धारणा बनानी चाहिए कि भगवान् सविशेष नहीं हैं। भगवान् अनन्त हैं, सविशेष भी हैं, निर्विशेष भी हैं और दोनों से परे भी हैं। यह अलौकिकता केवल भगवत्तत्त्व में ही है कि जिसके विषय में कोई सीमित धारणा निर्धारित नहीं की जा सकती।

जब दोनों प्रकार की बातें हृदय में हल-चल कर रही हों, ऐसी दशा में साधक को केवल भगवान् का स्मरण करना चाहिए, अर्थात् हृदय में व्याकुलता उत्पन्न होनी चाहिए। साधारण प्राणी केवल जप को स्मरण मानते हैं। जप और स्मरण में भेद है। जप में क्रिया की अधिकता और भाव की न्यूनता होती है। स्मरण में शुद्धभाव की अधिकता और क्रिया

लेशमात्र होती है, अर्थात् स्मरण में केवल भाव की प्रबलता होती है।

जप केवल स्वीकृतिमात्र से हो सकता है, परन्तु स्मरण तब तक नहीं हो सकता है, जब तक प्राणी सद्भावपूर्वक उनका न हो जाय, क्योंकि स्मरण सम्बन्ध के बिना किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। जब तक स्मरण न उत्पन्न हो, तब तक जप करना परम अनिवार्य है। जप सगुण भी है और निर्गुण भी है। जप की क्रिया सगुण तथा अर्थ निर्गुण है। जप करने से सम्बन्ध करने की शक्ति आ जाएगी। सम्बन्ध होते ही विरहाग्नि प्रज्वलित होगी, जो सभी विकारों को जला देगी।

व्याकुलता के विना न तो सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, न तत्त्वज्ञान। व्याकुलतारहित निर्जीव यंत्र की भाँति साधन करना क्रिया-परिवर्तन से भिन्न कुछ अर्थ नहीं रखता। आस्तिकता कर्म नहीं है। कर्म से तो भोग की प्राप्ति होती है। आस्तिकता प्राणी का जीवन है। शुभ कर्म भोग का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए साधन है। अशुभ कर्म से तो भोग भी प्राप्त नहीं होते। शुभ कर्म से संसार का यथार्थ ज्ञान होता है और आस्तिकता उत्पन्न होने की शक्ति आ जाती है। अतः वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग कर, भगवान का निरन्तर स्मरण करना चाहिए।

[२२]

हठयोग तथा राजयोग में केवल यही अन्तर है कि हठयोग प्रथम प्राण का निरोध करने का प्रयत्न करता है, तथा राजयोग प्रथम मन का। मन के निरोध से प्राण का निरोध अपने-

आप हो जाता है और प्राण के निरोध से मन दब जाता है। अतः विचारशील प्राणी प्राणनिरोध की अपेक्षा मनोनिरोध पर अधिक ध्यान देते हैं।

मन का निरोध प्रेम-पात्र के नाते वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने से, वासनाओं के त्याग से, आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन न करने से, एवं एक काल में एक ही कार्य करने से, कार्य करते समय पूरी शक्ति लगा देने से, और कार्य के अन्त में कार्य से सम्बन्ध-विच्छेद कर देने से अपने-आप हो जाता है। मन का निरोध होने पर छिपी हुई शक्तियों का विकास होने लगता है।

यदि प्राणी प्रथम साधन, अर्थात् जिसको उसने आरम्भ किया है, उस कार्य को ठीक-ठीक कर लेता है, तो उससे आगे आनेवाला साधन अपने-आप उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार जीवन की पूर्णता मृत्यु में बदलती है, उसी प्रकार प्रत्येक साधन आगामी साधन में अपने-आप बदल जाता है। अर्थात्, जब साधक अपनी योग्यता के अनुसार किसी भी साधन को आरम्भ कर देता है, तो आवश्यक साधन तथा शक्तियाँ अपने-आप प्रकट होने लगती हैं।

आध्यात्मिक उन्नति तथा भौतिक उन्नति में यही अन्तर है कि आध्यात्मिक उन्नति का साधक योग्यतानुसार साधन आरम्भ करते ही स्वतन्त्रता-पूर्वक सफलता प्राप्त करता है, क्योंकि अध्यात्म-उन्नति निज की सम्पत्ति है। भौतिक उन्नति का साधक प्रत्येक स्थल (Stage) पर कुछ-न-कुछ बाह्य सहायता एवं परतन्त्रता का अनुभव करता है। इसी कारण

भौतिक उन्नति में परतन्त्रता बनी रहती है, क्योंकि उसका जन्म परतन्त्रता में ही होता है।

सच बात तो यह है कि प्राणी आध्यात्मिक उन्नति सर्वदा स्वतन्त्रता-पूर्वक कर सकता है, क्योंकि स्वतन्त्रता का साधन परतन्त्रता कदापि नहीं हो सकती। अतः आप अपनी योग्यतानुसार अपने मन, इन्द्रिय आदि को सब ओर से हटा लो। सब ओर से हटाने पर आपको अपने में ही अपने प्रेम-पात्र का अनुभव होगा।

संसार से सच्ची निराशा एवं अपने को सब ओर से हटा लेना अध्यात्म-उन्नति का सर्वोत्कृष्ट सुगम साधन है।

[२३]

स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति तथा इच्छाओं की निवृत्ति करना ही मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य है। जब आवश्यकता इच्छाओं को खाकर सजीव तथा सबल हो जाती है, तब आवश्यकता-पूर्ति की शक्ति अपने-आप आ जाती है। प्राणी आवश्यकता की पूर्ति तथा इच्छाओं की निवृत्ति में सर्वदा स्वतन्त्र है और भोगों को सुरक्षित तथा नित्य बनाने में सर्वदा परतन्त्र है। मानव-जीवन में उपभोग का स्थान केवल भोग के यथार्थ ज्ञान के लिए है, क्योंकि भोग का यथार्थ ज्ञान होने पर भोग से अरुचि अपने-आप हो जाती है।

भोग से अरुचि होते ही भोग-वासनाओं का अन्त हो जाता है और भोग-वासनाओं का अन्त होते ही प्रेम-पात्र नित्य-जीवन की आवश्यकता जागृत हो जाती है। नित्य-जीवन की आवश्यकता जागृत होते ही निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, समता,

मुदिता आदि अलौकिक दिव्य गुण अपने-आप उत्पन्न हो जाते हैं।

प्रयत्न दोषों की निवृत्ति के लिए किया जाता है। दोषों की निवृत्ति होते ही गुण अपने-आप उत्पन्न होते हैं। निवृत्ति उसी की होती है, जो अस्वाभाविक (Artificial) हो। दोष दोषी का बनाया हुआ खिलौना है, इसी कारण उसकी निवृत्ति हो जाती है।

दोष उसी समय तक जीवित रहता है, जब तक दोषी स्वयं उसे अपनी दृष्टि से देख नहीं पाता, अर्थात् निर्बलताओं को देखने पर निर्बलताएँ भाग जाती हैं। ज्यों-ज्यों निर्बलताओं का ज्ञान होता जाता है, त्यों-त्यों बल की आवश्यकता जागृत होती जाती है। ज्यों-ज्यों बल की आवश्यकता सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों निर्बलता बल में उसी प्रकार परिवर्तित होती जाती है, जिस प्रकार काष्ठ अग्नि में। अतः अपनी निर्बलताओं को अपनी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करना निर्बलताओं को मिटाने के लिए परम आवश्यक है।

प्रत्येक प्राणी कल्पतरु की छाया में सर्वदा निवास करता है। अतः उन्नति से निराश होने के लिए वर्तमान जीवन में कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वर्तमान अनित्य जीवन वास्तव में नित्य जीवन की आवश्यकता मात्र है और कुछ नहीं। आवश्यकता तथा आवश्यक सत्ता में जातीय एकता तथा मानी हुई भिन्नता होती है, क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो आवश्यकता की पूर्ति कदापि नहीं हो सकती थी। पूर्ति उसी की होती है, जिससे मानी हुई भिन्नता तथा जातीय एकता हो।

आवश्यकता से जातीय एकता और इच्छाओं से मानी हुई एकता है। इसी कारण आवश्यकता की पूर्ति और इच्छाओं की निवृत्ति परम अनिवार्य है। इच्छाओं की उत्पत्ति प्रमाद से होती है। प्रमाद वास्तव में स्वीकृतिमात्र को सत्ता मान लेने से होता है। इच्छाओं के बादल छा जाने पर आवश्यकतारूपी सूर्य ढक-सा जाता है। इच्छाएँ आवश्यकता को मिटा नहीं पाती, परन्तु आवश्यकता इच्छाओं को खा लेती है। इस दृष्टि से आवश्यकता स्वाभाविक और इच्छाएँ अस्वाभाविक सिद्ध होती हैं।

आवश्यकता कब से उत्पन्न हुई, किसी को पता नहीं, किन्तु उसकी पूर्ति होने पर आवश्यकता की सत्ता शेष नहीं रहती। प्रेमी आवश्यकता और प्रेम-पात्र आवश्यक सत्ता है। प्रेमी तथा प्रेमपात्र के मिलन के लिए किसी तीसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं होती, अर्थात् प्रेमी स्वतन्त्रतापूर्वक प्रेम-पात्र से मिल सकता है।

प्रेम-पात्र तथा प्रेमी में यही अन्तर है कि प्रेमी, प्रेम-पात्र को विषयासक्ति के कारण भूलने लगता है, परन्तु प्रेम-पात्र कभी भी प्रेमी को नहीं भूलता। प्रेम-पात्र तो प्रेमी को अपनाने के लिए निरन्तर प्रतीक्षा करता है। जिस काल में प्रेमी, 'प्रेमी' हो जाता है, बस उसी काल में प्रेम-पात्र प्रेमी को अपना लेता है, अर्थात् प्रेमी तथा प्रेम-पात्र में दूरी उसी काल तक रहती है, जब तक कि प्रेमी 'प्रेमी' नहीं हो पाता।

जब प्रेमी सद्भावपूर्वक प्रेम-पात्र का हो जाता है, तब प्रेम-पात्र प्रेमी की सभी निर्बलताओं को खा लेते हैं, क्योंकि दुखी का दुःख दुःखहारी भगवान् का भोजन है। प्रेमी प्रेम-पात्र से

अपनत्व करता है और प्रेम-पात्र प्रेमी, से प्रेम करता है। अपनत्व भाव है, प्रेम जीवन तथा सत्ता है। अपनत्व साधन है और प्रेम साध्य है। प्रेमी अपनत्व के बल से प्रेम-पात्र को पाता है।

यह भलीभाँति समझ लो कि जिसमें आवश्यकता है, वह प्रेम नहीं कर सकता, केवल अपनत्व कर सकता है। प्रेम एक-मात्र प्रेम-पात्र ही कर सकते हैं, क्योंकि प्रेम-पात्र सब प्रकार से समर्थ तथा पूर्ण हैं। प्रेमी को अपनाना प्रेम-पात्र का स्वाभाविक, पवित्र, नित्य, अनन्त माधुर्य है। प्रेम वही कर सकता है जो देता है, लेता नहीं। साधारण साधक केवल गुणों के बल से प्रेम-पात्र के दिव्य-गुणों को पाता है, किन्तु अपनत्व के बल से प्रेमी, प्रेम-पात्र तथा गुण दोनों ही को पाता है।

अपनत्व का बल सभी बलों से श्रेष्ठ है। अपनत्व हो जाने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। अपनत्व का हो जाना ही भक्ति की दृष्टि से परम पुरुषार्थ है। अपनत्व भाव है; अतः प्राणी स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है।

आनन्दघन भगवान् से अपनत्व करने के लिए परतन्त्रता लेश-मात्र भी नहीं है। विषयों से सम्बन्ध करने में जो स्वतन्त्रता की झलक मालूम होती है, वह विषयों का राग मिटाने के लिए प्रेम-पात्र की कृपा-मात्र है, क्योंकि जिस राग को प्राणी विचार से नहीं मिटा पाता, उसको जानकारीपूर्वक मिटाने के लिए भगवान् विषयों की पूर्ति का अवसर देते हैं।

साधारण प्राणी विषयेच्छा की पूर्ति के रस में फँसकर आनन्दघन भगवान् से विमुख हो जाते हैं। अनित्य जीवन की

प्रत्येक परिस्थिति सदुपयोग करने के लिए मिली है। परिस्थितियों का सदुपयोग करते ही परिस्थितियों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और परिस्थितियों से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही प्रेम-पात्र से स्वतः सम्बन्ध हो जाता है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि करना भारी भूल है।

[२४]

योग्यता, ईमानदारी तथा परिश्रम से शक्ति प्राप्त होती है। प्राणी जितना कर सकता है, एवं जितना जानता है, उसके अनुरूप जीवन होने पर ही आवश्यकता की पूर्ति एवं इच्छाओं की निवृत्ति कर सकता है। बड़े आश्चर्य की बात यही है कि प्राणी जो कर सकता है, वही नहीं करता अर्थात् उसकी अनुभूति तथा कर्म में भेद रहता है। जिसकी क्रिया-शक्ति निज ज्ञान में ही विलीन होती रहती है, वह सुगमतापूर्वक सत्य को पा लेता है।

ज्ञान और कर्म में भेद रखना ही अकर्तव्य है। अकर्तव्य निकल जाने पर कर्तव्य अपने-आप आ जाता है। अपने कर्तव्य का ज्ञान प्रत्येक कर्ता में विद्यमान है। कर्तव्य-पालन करने पर कर्ता की सत्ता लक्ष्य में विलीन हो जाती है। फिर कुछ करना शेष नहीं रहता।

× × ×

वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने पर परिस्थिति विलीन-सी हो जाती है, अर्थात् उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। सम्बन्ध-विच्छेद होने पर प्रेमी अपने में आनन्दघन प्रेमपात्र की स्थापना कर अचिन्त हो जाता है। अचिन्तता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों द्रष्टा,

दर्शन, दृश्य रूप त्रिपुटी का अभाव होता जाता है। त्रिपुटी का अभाव होते ही प्रेमपात्र से भिन्न सत्ता शेष नहीं रहती, अर्थात् अभेदानन्द को पाकर प्रेमी कृतकृत्य हो जाता है।

विश्व अपनी एक अवस्था से भिन्न और कुछ मालूम नहीं होता, वियोग का भय शेष नहीं रहता। प्रेमपात्र का हो जाने पर सभी प्रवृत्तियाँ निवृत्ति में स्वतः विलीन हो जाती हैं, अर्थात् स्वाभाविक निवृत्ति आ जाती है। स्वाभाविक निवृत्ति आने पर प्रेमपात्र की प्रतीक्षा उत्पन्न होती है। प्रतीक्षा की अग्नि में सभी विकार अपने-आप जल जाते हैं, क्योंकि सत्य की आवश्यकता असत्य को खा जाती है।

व्यर्थ की चेष्टा न होने पाए। प्रत्येक प्रवृत्ति अभिनय के भाव से प्रेम-पात्र के नाते की जाय। अभिनय के अन्त में सावधानीपूर्वक अपने में ही अपने प्रेम-पात्र का अनुभव करने का प्रयत्न किया जाय। मानव-जीवन में हार स्वीकार करने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। सब प्रकार से सद्भावपूर्वक उनका हो जाने पर भय या चिन्ता शेष नहीं रहती।

जब प्राणी अपनी दृष्टि से अपने दोष देखने लगता है, तब सभी दोष अपने-आप निवृत्त हो जाते हैं, यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है। अपने दोष देखने की दृष्टि का उत्पन्न होना भगवान् की विशेष कृपा है। प्रेमी 'प्रेमी' हो जाने पर प्रेमपात्र प्रेमी और प्रेमी प्रेमपात्र हो जाता है, यह निःसन्देह सत्य है।

साधक को साध्य से कभी निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्राणी आवश्यकता की पूर्ति में और इच्छाओं की निवृत्ति में सर्वदा स्वतन्त्र है। जब प्राणी अकर्तव्य को कर्तव्य मान लेता

है, तब बेचारा परतन्त्रता के जाल में फँस जाता है। कर्तव्य-पालन करने के लिए लेशमात्र भी परतन्त्रता नहीं है। परतन्त्रता प्राणी का बनाया हुआ दोष है. जिसे वह स्वतन्त्रता-पूर्वक मिटा सकता है। जब प्राणी अस्वाभाविक को स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न करता है, तब बेचारा परतन्त्रता में फँस जाता है।

गहराई से देखिए, संयोग अस्वाभाविक है और वियोग स्वाभाविक। क्योंकि संयोग प्रयत्न करने पर भी नहीं रहता और वियोग बिना प्रयत्न ही आ जाता है। जो प्राणी संयोग की दासता का त्याग नहीं करता और वियोग को नहीं अपनाता, वह बेचारा नित्य-योग, नित्य-जीवन एवं नित्य-रस नहीं पाता। वियोग को अग्नि संयोग रूपी लकड़ी को निरन्तर जलाती रहती है। यह नियम है कि जब लकड़ी शेष नहीं रहती, तब वह अपने-आप शान्त हो जाती है। अतः जो विचारशील संयोग में ही वियोग का अनुभव कर लेते हैं, वे वर्तमान में ही नित्य-योग पाकर कृतकृत्य हो जाते हैं।

× × ×

संयोग दो प्रकार के होते हैं—अभेद-भाव तथा भेद-भाव के। जिस प्रकार, 'मैं विद्यार्थी हूँ' और 'मेरी पुस्तक है', इन वाक्यों में मैं' से विद्यार्थीपन का संयोग अभेद-भाव का तथा पुस्तक से भेद-भाव प्रकाशित होता है। संयोग-रहित 'मैं' या तो प्रेमपात्र की अभिलाषा है, अथवा प्रेमपात्र है। अभेद-भाव का संयोग सत्यता एवं भेद-भाव का संयोग प्रियता उत्पन्न करता है। दोनों प्रकार के संयोगों का वियोग होने पर संयोगजन्य सत्यता तथा प्रियता मिट जाती है।

संयोग-जन्य सत्यता तथा प्रियता मिटते ही, प्रेमपात्र की सत्यता तथा प्रियता बिना ही प्रयत्न आ जाती है। यह भली-भाँति समझ लो कि अभेद-भाव का संयोग स्वीकार करने पर ही भेद-भाव के संयोग का जन्म होता है, क्योंकि अहंता-शून्य ममता नहीं होती !

[२५]

निःसन्देह त्याग कल्पतरु के समान फल अवश्य देता है। परन्तु किसी आवेश में आकर जो त्याग किया जाता है, उसका निर्मल फल नहीं होता। स्वाभाविक अपने आप हो जाने वाला त्याग सर्वोत्कृष्ट त्याग है। स्वाभाविक त्याग आ जाने पर निरभिमानता, निर्वैरता एवं पवित्र प्रेम स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं। पवित्र प्रेम किसी से किया नहीं जाता। जिस प्रकार सूर्य से स्वतः प्रकाश निकलता है, उसी प्रकार प्रेमी के जीवन से स्वयं प्रेमरूपी प्रकाश फैलता है।

त्याग तथा प्रेम, ये दोनों ही एक वस्तु हैं। दृष्टि-भेद से दो प्रकार के प्रतीत होते हैं। इन दोनों का आधार यथार्थ ज्ञान है। ज्ञान के बिना त्याग एवं प्रेम जीवन का स्वरूप नहीं होते। साधारण प्राणी त्याग तथा प्रेम को अभ्यास समझ लेते हैं। 'अभ्यास' बिना कर्तापन के भाव के, कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक अभ्यास का जन्म किसी-न-किसी प्रकार की कामना के आधार पर होता है। अतः बेचारा कामना-युक्त प्राणी त्याग तथा प्रेम का आस्वादन नहीं कर पाता।

जिस प्रकार पका हुआ फल अपने-आप डाल से छूट जाता है, उसी प्रकार स्वधर्म-निष्ठ प्राणी अपने-आप राग-द्वेष से छूट

जाता है। रागद्वेष-रहित प्राणी सभी स्थानों पर त्याग और प्रेम को पा सकता है, किन्तु राग तथा द्वेष-युक्त प्राणी हिमालय की कन्दरा में भी त्याग तथा प्रेम को नहीं पाता। त्याग तथा प्रेम के बिना प्रेमपात्र से अभिन्नता कदापि नहीं हो सकती। सभी दोष अपने बनाए हुए हैं। अपने को प्राणी सदा साथ ही रखता है। अतः अपना सुधार करने पर ही बाह्य-परिस्थिति अनुकूल हो सकती है। अपना सुधार करने के लिए वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग परम अनिवार्य है।

वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग वही प्राणी कर सकता है, जो केवल अपनी ओर देखता है। साधारण प्राणियों को दूसरे के कर्तव्य दिखाई देते रहते हैं। परन्तु विचारशील को केवल अपना ही कर्तव्य दिखाई देता है, क्योंकि क्षण-भंगुर परिवर्तनशील जीवन में दूसरों के कर्तव्य देखने का अवकाश कहाँ ? हाँ, यह परम सत्य है कि कर्तव्य-निष्ठ प्राणी से जन-समाज में बिना प्रयत्न स्वाभाविक ही कर्तव्य-परायणता फैलती है।

देखिए, लकड़ी स्वयं जल कर दूसरों को जलाती है, किसी को जलाना सिखाती नहीं। दूसरों के सुधार एवं सिखाने की बात सीमित गुणों का अभिमान एवं अपनी योग्यता का परिचय देना है। हाँ, जिस प्राणी का हृदय विश्व के दुःख से अपने ही दुःख के समान दुखी है, वह ज्यों-ज्यों अपनी उन्नति करता जाता है, त्यों-त्यों उसके जीवन से विश्व-सेवा स्वतः होती जाती है।

आनन्दघन भगवान् सभी प्राणियों की रुचि पूरी करते हैं, परन्तु कर्तव्य-निष्ठ होना चाहिए। हमारी निर्बलताएँ इसलिए

नहीं मिटतीं कि हम सद्भावपूर्वक प्रार्थना नहीं करते। सद्भावपूर्वक प्रार्थना इसलिए नहीं कर पाते कि हमको जो योग्यता प्राप्त है, उसका ईमानदारीपूर्वक उपयोग नहीं करते। अपने को बचाकर निर्जीव-यन्त्र की भाँति की हुई प्रार्थना उसी प्रकार सार्थक नहीं होती, जिस प्रकार बिना भूख भोजन। कर्तव्य-निष्ठ प्राणी में निर्बलताओं को मिटाने के लिए सद्भावपूर्वक प्रार्थना अपने-आप उत्पन्न होती है और सार्थक भी होती है।

[२६]

जो अपने आप में सन्तुष्ट हैं, उनको अपने लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता शेष नहीं रहती, क्योंकि उनमें विश्व तथा विश्वनाथ नित्य निरन्तर अविचल भाव से निवास करते हैं।

अभेद-भाव का भक्त सर्व अवस्थाओं से अतीत होकर नित्य जागृति का अनुभव कर कृतकृत्य हो जाता है।

जिस भक्त को वियोग का भय लेशमात्र भी नहीं होता, अर्थात् वियोग ही जिसका जीवन है, उसको नित्य योग प्राप्त होना अनिवार्य हो जाता है; क्योंकि जो संयोग में ही वियोग का अनुभव कर लेता है, उसका नित्य योग होना परम अनिवार्य है।

नित्य योग के बिना चैन से न रहना, यही परम पुरुषार्थ है। जो कर सकते हो कर डालो; इससे ही आपको सब कुछ मिल जाएगा।

[२७]

शरीर एक यन्त्रमात्र है। जो प्राणी अपनी अहंता से उसे

पकड़ लेते हैं, उन बेचारों को शरीर की योग्यता, अयोग्यता, सबलता एवं निर्बलता आदि गुण-दोष बांध लेते हैं। परन्तु जिन्होंने शरीर उस अनन्त शक्ति को दे दिया है, जिसका कि वह है, उनके ऊपर से तो शरीर का बोझ उतर जाता है; उनको तो शरीर जल में बहते हुए फूल के समान प्रतीत होता है। उसकी पूर्ति तथा अपूर्ति समान अर्थ रखती है। बन्धन का कारण वही संकल्प होता है, जिसका जन्म किसी-न-किसी प्रकार के राग-द्वेष से हुआ हो। कर्म का भय उन प्राणियों को होता है, जिनको करने का अभिमान होता है, तथा जिनको अपनी सीमित शक्तियों पर विश्वास होता है।

अभिमानरहित होते ही सभी यन्त्र शक्तिशाली एवं निर्दोष हो जाते हैं। अभिमानयुक्त बड़े-से-बड़ा गुण भी दोष के समान होता है। निर्बलताओं का चिन्तन उसको करना चाहिए, जिसमें कुछ बल हो। जिसका सारा बल समाप्त हो चुका हो, उसको अपनी निर्बलताओं के चिन्तन करने का अधिकार कब है? यदि हम उनके होकर भी निर्बलताओं का चिन्तन करते हैं, तो हम उनके प्रभाव को नहीं जानते।

'उनका' हो जाने पर निर्बलता भी महान् बल है और उनका बिना हुए महान् बल भी परम निर्बलता है। जिस प्रकार नदी का कोमल जल बड़ी-से-बड़ी पहाड़ियों से टकराकर स्वतन्त्रतापूर्वक अपने प्रेमपात्र समुद्र से मिल जाता है, उसी प्रकार निर्बल-से-निर्बल भी उनका होकर, बड़ी-से-बड़ी समस्याओं से पार होकर, उनसे अभिन्न हो जाता है। जिसमें अनन्त गुण हों, भला क्या कोई भी प्राणी उसे गुणों से खरीद सकता है? कदापि नहीं। महाघोर मोहरूपी समुद्र से क्या कोई भी प्राणी अपने बल से पार हो सकता है? कदापि नहीं।

उनका होकर ही उन्हें पा सकता है और उनकी कृपामात्र से ही अनन्त संसार से पार हो सकता है। अतः निरन्तर अपने सद्भाव का आदर एवं उनके पवित्र प्यार की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

[२८]

भक्त जिस काम को नहीं कर सकता, भगवान् उसको वह काम नहीं देते। मानसिक दुर्बलता के लिए भक्त के जीवन में कोई स्थान नहीं है। भक्त सर्वदा अचिन्त तथा अभय रहता है, और जो सेवा अपने आप सामने आती है, उसको यथाशक्ति पूरा कर, अचिन्त हो जाता है। भक्त पर सुख, दुख तथा चिन्ता आदि का शासन नहीं होता।

[२९]

ज्ञान तथा क्रिया का विभाग होते ही निज-स्वरूप का अनुभव होता है। क्रिया को देखने पर ज्ञान तथा क्रिया का विभाग हो जाता है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अनन्त संसार में केवल क्रिया ही प्रतीत होती हैं। जिसमें क्रिया होती है, वह क्रिया को देख नहीं सकता, क्योंकि क्रिया से क्रिया देखी नहीं जा सकती। क्रिया को तो क्रिया से अतीत स्वयं प्रकाश-सत्ता देख सकती है; क्योंकि जिसमें क्रिया किसी काल में भी नहीं है, जो स्वयं अपने आपको प्रकाशित कर रहा है, उससे अभेद होने पर ही नित्य जागृति हो सकती है। नित्य जागृति होने पर ही अवस्था-भेद मिट सकता है।

हाथ, पैर अर्थात् कर्मेन्द्रियों की क्रिया, नेत्र अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों द्वारा देखने में आती है, परन्तु ज्ञानेन्द्रियों की क्रिया

को मन के द्वारा देख पाते हैं, और मन की क्रिया को बुद्धि के द्वारा देख लेते हैं, तथा बुद्धि की क्रिया को सम अवस्था जिसके द्वारा अनुभव करते हो, वह स्वयं-प्रकाश आप का निजस्वरूप है। उसमें उसी प्रकार से एक ही भाव में स्थित रहना परम पुरुषार्थ है, जिस प्रकार कि एक ब्राह्मण 'मैं ब्राह्मण हूँ'-- इस भाव में स्थित रहता है।

अभेद-भाव का सम्बन्ध होने पर वियोग शेष नहीं रहता। प्रत्येक प्राणी अभेदभाव का तथा भेद-भाव का किसी-न-किसी से सम्बन्ध करता है। जैसे, 'मैं ब्राह्मण हूँ', यह अभेद-भाव का सम्बन्ध तथा 'यह शरीर एवं यह बालक मेरा है', यह भेदभाव का सम्बन्ध है। जिससे अभेद-भाव का सम्बन्ध होता है, उसकी स्वीकृति तथा स्थिति बिना ही प्रयत्न बनी रहती है, अर्थात् एक बार की हुई स्वीकृति उस समय तक जीवित रहती है, जब तक अस्वीकृति न की जाय। परन्तु भेद-भाव का सम्बन्ध जीवित रखने के लिए किसी-न-किसी प्रकार का प्रयत्न करना अनिवार्य है। इसी कारण भेद-भाव के प्रेमियों को वियोग एवं मिलन का भाव होता है, अर्थात् भाव का 'भेद' अभेद नहीं होने देता।

माने हुए भेद-भाव का सम्बन्ध मिटने पर संसार की ओर से आने वाला दुःख और सुख मिट जाता है तथा माने हुए अभेद-भाव का सम्बन्ध मिटते ही मानी हुई सीमित अहंता अर्थात् सीमित अहं-भाव (Limited Personality) मिट जाता है। सीमित अहंता मिटते ही किसी प्रकार की वासना शेष नहीं रहती। ज्यों-ज्यों निर्वासना स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों स्वरूप-स्थिति दृढ़ होती जाती है। ज्यों-ज्यों स्वरूप-

स्थिति दृढ़ होती जाती है, त्यों-त्यों दृश्य एवं क्रिया का अभाव होता जाता है। ज्यों-ज्यों क्रिया का अभाव होता जाता है, त्यों-त्यों तत्त्व-ज्ञानपूर्वक तत्त्व-निष्ठा स्थायी होती जाती है। ज्यों-ज्यों तत्त्व-ज्ञानपूर्वक तत्त्व-निष्ठा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों शक्ति तथा शान्ति का विकास होता जाता है।

माना हुआ 'मैं' तथा माना हुआ 'मेरा' मिटने पर ही तत्त्व-ज्ञान हो सकता है। भक्त तथा जिज्ञासु दोनों में ही माना हुआ 'मैं' तथा माना हुआ 'मेरा' शेष नहीं रहते। पूर्ण जिज्ञासा जागृत होने पर तत्व-ज्ञान स्वतः हो जाता है। अतः जिज्ञासु को पलमात्र के लिए भी तत्व-ज्ञान के बिना सन्तोष नहीं करना चाहिए, क्योंकि वास्तविक सन्तोष तो तत्त्व-निष्ठ होने पर ही हो सकता है। बनावटी संतोष का अन्त करना अनिवार्य है। परम भक्त वही है, जो प्रेम-पात्र से विभक्त नहीं होता। बनावटी सन्तोष जिज्ञासुओं को ज्ञान नहीं होने देता और प्रेमियों को प्रेम-पात्र से मिलने नहीं देता। अतः बनावटी सन्तोष को जीवित नहीं रखना चाहिए।

भविष्य की आशा बनावटी सन्तोष को जीवित रखती है। भविष्य की आशा वही प्राणी करता है, जिसका हृदय पूर्ण दुखी नहीं हुआ। उस अभागे सुख का अन्त कर दो, जो पूर्ण दुखी नहीं होने देता। जिसको लेशमात्र भी सुख नहीं रहता, वह प्राणी संसार का वमन के समान त्याग कर देता है। यद्यपि बेचारा प्राणी आप दुखी ही बना रहता है, परन्तु अपना मूल्य घटा कर बनावटी सुख से बनावटी सन्तोष कर लेता है। जो अपना मूल्य नहीं घटाता है, उसको संसार सुख नहीं दे पाता। अपने लिए अपने से भिन्न की खोज करना ही

अपना मूल्य घटा देना है। जो अपने लिए अपने से भिन्न की खोज नहीं करता, उसमें विश्व तथा विश्वनाथ दोनों ही निवास करते हैं।

[३०]

जिस प्रकार मूल कट जाने पर भी वृक्ष कुछ काल तक हरा बना रहता है, उसी प्रकार मानी हुई अहंता मिट जाने पर भी केवल अभिनय (Acting) के स्वरूप में अपने-आप सामने आती है और अपना पार्ट दिखा कर स्वयं विलीन हो जाती है, तथा निज-स्वरूप स्वयं अपने आपको अपनी महिमा में स्थित पाता है।

सभी प्रवृत्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं—क्रिया-रूप प्रवृत्ति, चिन्तन-रूप प्रवृत्ति एवं स्थिति-रूप प्रवृत्ति। क्रिया-रूप प्रवृत्ति में तीनों शरीर काम करते हैं, चिन्तन-रूप प्रवृत्ति में दो शरीर काम करते हैं तथा स्थिति-रूप प्रवृत्ति में एक शरीर काम करता है। अथवा यों कहो कि क्रिया-रूप प्रवृत्ति में स्थूल शरीर की प्रधानता होती है, चिन्तन-रूप प्रवृत्ति में सूक्ष्म शरीर की और स्थिति-रूप प्रवृत्ति में कारण शरीर की।

निज-स्वरूप का बोध होने पर तीनों प्रकार के शरीरों से असङ्गता हो जाती है। असङ्गता होने पर शरीर निर्जीव होकर विश्व का (Universal) हो जाता है, अर्थात् वह विश्व की क्रिया-शक्ति से क्रिया करने लगता है। अतः अहंता से उत्पन्न होनेवाली क्रिया का अन्त हो जाता है। जो क्रिया अहंभाव से उत्पन्न नहीं होती, उसका रस अङ्कित नहीं होता। जिस क्रिया का रस अङ्कित नहीं होता, उसकी वासना नहीं

बनती अर्थात् प्राकृतिक विधान (Natural Law) से क्रिया हो जाने पर भी निर्वासना ही शेष रहती है। निर्वासना होने पर चिन्तन-रूप प्रवृत्ति शेष नहीं रहती अर्थात् क्रिया-रूप प्रवृत्ति एवं स्थिति-रूप प्रवृत्ति अभिनय (Acting) के रूप में जीवित रहती है।

स्थिति-रूप प्रवृत्ति में प्रसन्नता प्रतीत होती है। ज्यों-ज्यों उस प्रसन्नता से असङ्गता होती जाती है, त्यों-त्यों स्वरूप-निष्ठा बढ़ती जाती है। परन्तु यदि स्थिति-जनित प्रसन्नता का भोग कर लिया जाय, तो स्थिति भङ्ग हो जाती है, जिसके होते ही स्थिति-जनित प्रसन्नता के लिए व्याकुलता उदय होती है। असह्य व्याकुलता बढ़ जाने से स्थिति प्राप्त हो जाने पर पुनः प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है। तत्त्ववेत्ता को स्थिति-रूप प्रसन्नता भी अभिनय (Acting) मालूम होती है, जीवन नहीं। क्योंकि जीवन नित्य है और स्थिति अनित्य है। यद्यपि स्थिति का रस सब प्रकार की प्रवृत्तियों से विशेष मूल्य की वस्तु है, तथापि निवृत्ति एवं नित्य-जीवन की अपेक्षा वह कुछ अर्थ नहीं रखता। नित्य जीवन स्थिति से असङ्ग होने पर आता है और फिर जाता नहीं। आना-जाना प्रवृत्तियों के रस में ही होता है, जो एक प्रकार का राग (Attachment) है।

राग यथार्थ ज्ञान नहीं होने देता। जब त्याग राग को खा लेता है, तब स्वयं यथार्थ ज्ञान हो जाता है। समझ बेचारी तो स्थिति से आगे नहीं जाती। स्थिति से आगे आप समझ को छोड़कर जा सकते हैं। स्थिति का रस विरह उत्पन्न करता है, इसी कारण व्याकुलता बढ़ती है। यह अवस्था

संसार के सभी रसों से श्रेष्ठ है, परन्तु नित्य जीवन से अभेद नहीं होने देती, प्रत्युत समीपत्व करती है।

सीमित अहंभाव (Limited personality स्थिति के रस से भी जीवित रहता है। अधिक काल तक स्थिति का रस-पान करने पर स्थिति के त्याग करने की शक्ति आ जाती है। जिस प्रकार व्याकुलता स्थिति उत्पन्न कर देती है, उसी प्रकार स्थिति स्वयं त्याग उत्पन्न कर देती है, क्योंकि स्थिति की पूर्णता स्थिति नहीं हो सकती। सभी अवस्थाएँ अपूर्ण दशा में शेष रहती हैं। पूर्ण व्याकुलता, व्याकुलता नहीं रहती और पूर्ण स्थिति, स्थिति नहीं रहती। आपका पवित्र हृदय कोमल है। अतः प्रेमपात्र का प्रेम सहन नहीं कर पाता, इस कारण अश्रु-धारा होने लगती है। आप तथा आपका हृदय धन्य हैं।

मानी हुई अहंता की अस्वीकृति तो प्रयत्न है, परन्तु निज-स्वरूप की स्वीकृति प्रमाद अर्थात् भूल है; क्योंकि 'है' की क्रिया-रूप स्वीकृति नहीं होती, 'है' का तो अनुभव होता है। अनुभव एकता होने पर होता है। स्वीकृति स्थिति उत्पन्न करती है, अनुभव नहीं। अस्वीकृति अग्नि के समान है, जो मानी हुई अहंता-रूप लकड़ी को जलाती है। लकड़ी जल जाने पर अग्नि अपने-आप शान्त हो जाती है, अर्थात् मानी हुई अहंता शेष न रहने पर निज-स्वरूप का अमुभव होता है, स्वीकृति नहीं। स्थिति अवस्था है, जो शक्तियों के विकास में समर्थ है।

निज-स्वरूप ज्ञान है, जो शान्ति प्रदान करने में समर्थ है। शक्ति तथा शान्ति आने पर ही जीवन की पूर्णता सिद्ध होती

है। शान्ति आ जाने पर शक्ति अपने-आप आ जाती है। शक्ति तथा शान्ति आपके निज-स्वरूप की दो पतिव्रता पत्नियाँ हैं। आप पुरुष हैं; केवल उनकी पूर्ति के लिए उनकी ओर देखिए, अपने लिए नहीं। शक्ति तथा शान्ति अपने-आप आने वाली प्रवृत्तियाँ हैं। क्रिया-रूप प्रवृत्ति प्राकृतिक विधान (Natural law) से होकर अपने-आप मिट जाएगी, आप निश्चिन्त रहिए।

(उत्तरार्द्ध 'सन्त-समागम भाग 3' में)

मूल्य ५=००   ४००० जून १९९०